

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 11 अंक 2

अक्टूबर-दिसम्बर 2013

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	₹ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	₹ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपए
अन्दर कवर	7,500.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. पाश्चात्य सार्वभौमिकता को एक अद्यतन भारतीय चुनौती <i>रमेशचन्द्र शाह</i>	9
2. दूसरी दुनिया और मैं <i>शंकर पुणताम्बेकर</i>	21
3. सर्जनात्मक साहित्य के आयाम और समय के प्रश्न <i>नन्दलाल मेहता वागीश</i>	28
4. इतिहास-दृष्टि और सृजनकर्म <i>कृष्ण चन्द्र गोस्वामी</i>	35
5. भारतीय दर्शन का व्यावहारिक स्वरूप <i>एस.पी. दुबे</i>	43
6. आधुनिकता, अन्तर्धर्म संघर्ष और बौद्धधर्म <i>अम्बिकादत्त शर्मा</i>	50
7. पुस्तक समीक्षा : बीजगणित की विकास-यात्रा <i>कृपाशंकर सिंह</i>	62
8. पुस्तक समीक्षा : स्थितिगत परिवर्तन की माँग करती शीतांशु की कविताएँ <i>सरजू प्रसाद मिश्र</i>	70

9.	समीक्षा : कहानियों में प्रेमचंद श्रीभगवान सिंह	75
10.	पुस्तक-समीक्षा : संत एवं समाज ब्रज बिहारी कुमार	83
11	समीक्षा : कान्हा बजावै बाँसुरिया : एक अनिवार तान देवेन्द्रनाथ शुक्ल	88
12.	सिदो कान्हू और उनका आबुआराज युगल झा	92
13.	हृदय एवं सहृदय योगेश शर्मा	100
	पाठकीय प्रतिक्रिया	119
	प्राप्ति-स्वीकार	123

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

2013 के चुनाव : कुछ संकेत

राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, दिल्ली एवं मिजोरम विधान-सभाओं के 2013 में हुए चुनावों के परिणाम देश की जनता एवं राजनीतिक दलों के लिए दृगोन्मीलक रहे हैं। इस चुनाव में दिल्ली, राजस्थान एवं मध्य प्रदेश में कांग्रेस बुरी तरह हारी; छत्तीसगढ़ में उसने भारतीय जनता पार्टी को टक्कर तो दिया, लेकिन सत्ता में न आ सकी। जैसे वहाँ बस्तर के क्षेत्र में कांग्रेस के नेताओं के नक्सलियों द्वारा मारे जाने के कारण सहानुभूति के मत भी मिले; मध्य प्रदेश, राजस्थान एवं छत्तीसगढ़ में भाजपा की तथा मिजोरम में कांग्रेस की सरकार बनी। दिल्ली में आम आदमी पार्टी सत्ता में आयी, यद्यपि उसे भाजपा के 32 के मुकाबले मात्र 28 स्थान मिले थे। कांग्रेस ने जिसे मात्र 8 स्थान मिले थे, “आप” को सत्ता से बाहर रहकर सरकार बनाने में सहयोग दिया। कांग्रेस की हार के बावजूद इस चुनाव के परिणाम दो दलों को चुनने की तरफ जनता के झुकाव दिखाते हैं। तीसरा मोर्चा, जो मात्र चुनावी मौसम में बरसाती मेढ़कों की तरह अस्तित्व में आता है, कहीं दिखायी नहीं दिया। नीतीश कुमार ने बिहारी लोगों एवं “सेकुलर” वोटों का भरोसा करके लगभग 30 प्रत्याशी खड़े किए थे। उनका मात्र एक प्रत्यासी जमानत बचा कर जीत सका। लगता है मायावती का जाटव व्होट-बैंक उनसे कन्नी काट गया। बहुजन समाज पार्टी का पिछले चुनाव की तुलना में कम मध्यप्रदेश में सात के स्थान पर चार, राजस्थान में छः की जगह तीन, छत्तीसगढ़ में दो की जगह एक तथा दिल्ली में दो की जगह शून्य प्रत्याशी ही चुनाव जीत पाये। दूसरे दलों को राजस्थान में 20 के स्थान पर 13 एवं मध्य प्रदेश में नव की जगह तीन स्थानों पर ही सफलता मिल पायी।

दिल्ली में, मात्र एक वर्ष पहले बनी, ‘आप’ की अप्रत्याशित सफलता से दोनों राष्ट्रीय दलों को झटका लगा है। कांग्रेस न केवल सत्ता-विहीन ही हुई, उसे 70 सदस्यों की विधान सभा में मात्र 8 स्थान ही मिले। भारतीय जनता पार्टी को सत्ता मिलते मिलते रह गयी। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि 1970 के दशक में मात्र चार महीने पूर्व बनी जनता पार्टी को चुनाव में अभूतपूर्व सफलता मिली थी। फिर दिल्ली जैसे छोटे राज्य में चुनाव लड़ना अपेक्षाकृत आसान है राष्ट्रीय स्तर पर सफल होने के लिए इस दल को दिल्ली में अपने कार्य के सफल प्रदर्शन के साथ ही देश भर में ईमानदार कार्यकर्ताओं की फौज खड़ी करनी पड़ेगी, जिनमें देश तथा समाज एवं उनकी समस्याओं की समझ हो। साथ ही आन्दोलन से उपजे इस दल को मूल्यों से जुड़ाव का उदाहरण देश के सामने रखना होगा। स्पष्टतः ऐसा कर पाना कठिन होगा,

क्योंकि मानव निर्माण की प्रक्रिया उतनी आसान नहीं। आसान रास्ता अपनाएने पर यह दल राजनीतिक दलों की भीड़ में इजाफा ही करेगा।

जनता के पैसे का लोकलुभावने कार्यों के लिए दुरुपयोग इस देश की विकृत राजनीति का अंग बन गया है। देश का एक बहुत बड़ा प्रबुद्ध वर्ग जनता के सामने विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा रोटी के टुकड़े फेंके जाने को अपमानजनक तथा राजनीतिक ठगी मानता है। इस चुनाव के ठीक पहले कांग्रेस खाद्य-सुरक्षा विधेयक लाना चाहती थी। अन्ततः अध्यादेश द्वारा उसके लाभ लोगों तक पहुँचाकर इससे चुनाव में लाभ लेने की बात सोची। भारतीय जनता पार्टी ने भी विधेयक का विरोध नहीं किया था, जिसका कारण सर्व-विदित है। लेकिन चुनाव में तो खाद्य-सुरक्षा अध्यादेश का लाभ कांग्रेस को नहीं ही मिला। स्पष्टतः दिल्ली, राजस्थान या देश के किसी अन्य भाग की जनता कांग्रेस या अन्य राजनीतिक दलों से अधिक समझदार है। वह आर्थिक सशक्तिकरण चाहती है। रोटी के टुकड़े या लैपटॉप नहीं। आखिर जनता को स्थायी लाभ तथा गरीबी का हटाया जाना सरकारी पैसे के जो उसी का पैसा है

के ठोस कार्यों में उपयोग द्वारा ही संभव है। वैसे कांग्रेस की इस हार के कई अन्य कारण भी रहे हैं। कांग्रेस पार्टी का अपनी ही पार्टी की सरकार से तालमेल का अभाव, भ्रष्टाचार और महँगाई का अत्यधिक बढ़ लाना, सरकार का कमजोर होना, आदि लोगों की नजर से छिपा नहीं रह सका। भ्रष्ट सरकारी तंत्र के चलते सामाजिक एवं लोक-लुभावन कार्यों में खर्च की जानेवाली राशि का लाभ तो लोगों तक कम ही पहुँच पाता था, पर वह महँगाई बढ़ाने का कारक तो था ही। फिर अपराधी राजनीतिकों को बचाने के लिए निकाले जानेवाले गलत अध्यादेश को कांग्रेस दल एवं मंत्रिमण्डल की स्वीकृति प्राप्त थी। ऐसे में राहुल गांधी द्वारा उसे बकवास तथा फाड़ने लायक करार देना विश्वासप्रद कदम नहीं लगता। इससे प्रधानमंत्री पद की गरिमा भी घटी है। फिर जिस लालू यादव के लिए अध्यादेश लाया जा रहा था, उसी से मिलकर चुनाव लड़ने की बात करना, या इसी तरह फिक्की में अपने भाषण में राहुल गांधी का भ्रष्टाचार के विरुद्ध भड़ास निकालना और महाराष्ट्र की कांग्रेस सरकार द्वारा आदर्श घोटाला काण्ड आयोग की रिपोर्ट का नकारा जाना जनता की नजर में कांग्रेस तथा राहुल गांधी की छवि को बिगड़ने से नहीं बचा सका। स्पष्टतः उन्हें अपनी बात एवं व्यवहार के अन्तर्विरोध, पार्टी एवं सरकार के बीच के अन्तर्विरोध, विधेयक बनाने जैसे संसद के कार्यको राष्ट्रीय सलाहकार समिति जैसी बाहरी संगठनों को सौंपने जैसे कार्यों से परहेज तो करना ही चाहिए था; साथ ही, पार्टी के अंदर संगठनात्मक सुधार, आन्तरिक वैचारिक स्वतंत्रता तथा चापलूसों के महत्त्व को कम करने जैसे कदम भी उठाया जाना चाहिए था। इस चुनाव में मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़ की पदस्त सरकारें तीसरी बार सत्ता में आयी हैं; मिजोरम में ऐसा चौथी बार हुआ है। जनादेश स्पष्ट है कि जनता

पदस्त सरकारों को अकारण नहीं बदलती। जनादेशके कुछ अन्य संकेत निम्न-लिखित हैं:

- * जनता ने उन दलों को नकार दिया है जिनके नेता अस्थिर जनादेश में लाभ देखने लगे हैं; जिनको लगता है कि अस्थिर जनादेश की स्थिति में उनके दलों के कुछ ही सांसदों के होने पर भी उनके लिए प्रधान-मंत्री का पद पाना संभव हो पायेगा, जैसा कि देवे गौड़ा या गुजराल के साथ हुआ, या फिर राज्य-स्तर पर झारखण्ड में मधु कोड़ा के साथ हुआ।
- * लोगों ने 'सेकुलर-कार्ड' की असलियत जान लिया है। अब उसका अत्यधिक प्रयोग हानिकारक होता जा रहा है। लगातार की जानेवाली निन्दा से नरेन्द्र मोदी की स्वीकृति बढ़ी है। वैसे अपने कुशल प्रशासन एवं जनहित के कार्यों से भी उन्होंने जनता का विश्वास अर्जित किया है। फिर ऐसे लोगों की कमी नहीं, जो गोधरा काण्ड के उल्लेख के बिना गुजरात के दंगों की बात करनेवालों, या इसे एक-पक्षीय कार्रवाई माननेवालों को पाखण्डी समझते हैं।
- * जनता व्होट-बैंक की सँकरी राजनीति के स्थान पर जन-केन्द्रित राजनीति चाहती है, जो सर्व-समावेशी हो।
- * जनता राजनीतिक दलों द्वारा राजनीति से जुड़े परिवारों के अनुभवहीन नवजवानों को अपने ऊपर लादा जाना पसंद नहीं करती। ऐसे नवयुवकों को देश एवं समाज की, हमारी समस्याओं की पूरी समझ विकसित करने के बाद ही नेतृत्व सँभालना चाहिए।
- * राजनीतिक दलों को आन्तरिक आत्म-विश्लेषण, आन्तरिक कार्य-समीक्षा एवं अपने कार्य की लेखा जोखा की प्रक्रिया विकसित करनी चाहिए।

आज इस देश में नेताओं एवं राजनीतिक दलों का एकमात्र उद्देश्य तिकड़म, धन-बल के प्रयोग, राजनीतिक ठगी, या फिर जैसे भी, सत्ता प्राप्ति बन गया है। समान लक्ष्य, समान कार्य पद्धति, सभी दलों में सिद्धान्तहीनता, आदि से उनकी अलग पहचान गड़बड़ायी है; सबके चेहरे सपाट, बिल्कुल एक तरह के हो गये हैं। सार्थक बदलाव आवश्यक है।

दीनानाथ मिश्र नहीं रहे

जाने माने लेखक पत्रकार, स्तंभ लेखक एवं संपादक तथा राज्य-सभा के पूर्व-सदस्य दीनानाथ मिश्र जी नहीं रहे। वे कुछ समय से बीमार चल रहे थे; कैलाश अस्पताल में भर्ती थे। 13 नवम्बर 2013 को वे हमारे बीच नहीं रहे। मिश्रजी दूर-दृष्टि सम्पन्न चिन्तक, विद्वान एवं कर्मठ तथा ईमानदार राष्ट्र-सेवक थे। इण्डिया फर्स्ट फाउण्डेशन द्वारा जिसके वे संस्थापक अध्यक्ष थे कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें एवं दो महत्त्वपूर्ण

पत्रिकाओं के कई वर्षों तक के प्रकाशन हमारे बौद्धिक जगत में उनके महत्त्वपूर्ण स्मारक की तरह बने रहेंगे। उनमें राष्ट्र-हित एवं समाज हित में किए गये किसी भी, और किसी के द्वारा किए जा रहे कार्य के प्रति गहरी सहानुभूति थी और वे उसमें ईमानदारी पूर्वक योगदान एवं सहायता करना चाहते थे। आस्था भारती तथा इसकी पत्रिकाओं डायलॉग एवं चिन्तन-सृजन से उनका आत्मिक तथा बौद्धिक लगाव रहा। उनके स्वर्गवास से देश, समाज एवं हम सबको अपूरणीय क्षति पहुँची है। हम उनकी याद ताजा बनाए रखना चाहते हैं। ईश्वर से प्रार्थना है वे उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करें।

ब्रज बिहारी कुमार

**लेखकों से अनुरोध है कि पुस्तक-समीक्षा
संपादक के अनुमति के बिना न भेजें।**

पाश्चात्य सार्वभौमिकता को एक अद्यतन भारतीय चुनौती

रमेशचन्द्र शाह*

हमारी हिन्दी के एक बड़े कवि-विचारक जयशंकर प्रसाद के प्रसिद्ध नाटक 'स्कन्दगुप्त' में आया एक वाक्य मेरे भीतर जब-तब कौंधता रहा है कि ...“हमारी अत्यधिक क्षमा करने की आदत ने हमें औरों के सामने स्पृहणीय या अनुकरणीय नहीं, उल्टे वेध्य ही बनाया है।” निश्चय ही, प्रसाद जी की उस नाटकीय उक्ति के पीछे कहीं यह अहसास भी काम कर रहा होगा कि क्षमा भी समर्थों को ही शोभा देती है। जिसकी सामर्थ्य खुद ही संकटापन्न या सन्दिग्ध है, उसकी क्षमा या सहिष्णुता शत्रु को उसकी दुर्बलता ही प्रतीत होती है उसे और अधिक आक्रान्त बनने को आमन्त्रित करती हुई। जरा सोचिए यह बात 'स्कन्दगुप्त' के जमाने के भारत के बारे में की जा रही है जब हम अपनी शक्तिमत्ता के शिखर पर तो नहीं, पर कम-से-कम ढलान पर तो डटे ही थे। आज की तारीख में, जब तथाकथित पश्चिम के एक लम्बे अरसे से फल-फूल रहे धार्मिक, नैतिक और आर्थिक साम्राज्यवाद की चपेट में समूचा विश्व आ चुका है। आज की तारीख में वह बात कैसे किस तरह हमारे सिर पर चढ़के बोलती है बोलती भी है कि नहीं, यह विचारणीय है। यहाँ हमें स्मरण रखना होगा कि यह आधुनिक हिन्दी के सर्वाधिक विश्व-चेतस् महाकाव्य 'कामायनी' के लेखक की उक्ति है। उस 'कामायनी' की, जो संकटापन्न विश्व-मानवता की कथा कहती है जो अपने रूपाकार और कथ्य दोनों में विश्व-मानव की नियति को लेकर उतनी ही चिंताकुल और प्रतिबद्ध है, जितनी भारतीय परम्परा और संस्कृति को लेकर। जाहिर है कि यह घटना कोई अपवाद नहीं है : हिन्दी साहित्य का हजार बरसों का इतिहास ही इस तथ्य को हमारे सामने उघाड़ देता है कि इस देश की मिट्टी में, इसके मूल मनःसंस्कार में ही कुछ ऐसा है, जो इसे हर तरह की सीमा और संकीर्णता से ऊपर उठाए रखना चाहता है। इसे महज भावुकतावश नहीं, बल्कि तत्त्वतः विश्व-चेतस् बनाता है। लोहिया जिसे

*रमेशचन्द्र शाह, एम 4, निरालानगर, भदभदा रोड, भोपाल 462003, दूरभाष : 0755-2775314

‘विश्वयारी’ कहते थे, वह नहीं, बल्कि जीवन और सृष्टि की हमारी तात्त्विक समझ में से ही अनिवार्यतः प्रगट हुई विश्वात्मकता, या कह लीजिए चराचरवाद। आपने अँग्रेजी या अन्य विश्व की भाषाओं में रचे गए महाकाव्य देखे होंगे आप जानते ही होंगे कि हर महाकाव्य का आरम्भ इस प्रार्थना या ‘इन्वोकेशन’ (आवाहन) से होता है कि रचना निर्विघ्न सम्पन्न हो। तो आप याद करें, हमारी हिंदी का महाकवि अपने ‘रामचरितमानस’ में किसका आवाहन कर रहा है और कैसे कर रहा है, और तब मुझे बताएँ कि क्या कहीं अन्यत्र भी आपको इस तरह का, इससे तुलनीय उदाहरण मिला है? तुलसीदास अपने महाकाव्य ‘रामचरितमानस’ का आरम्भ इस प्रार्थना या निवेदन से करते हैं, कि

*आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल-थल नभ वासी ॥
सियाराममय सब जग जानी। करहु प्रनाम जोरि जुग पानी ॥*

यह है भारतीय कवि की विश्वात्म-दृष्टि और दिव्यता की उसकी समझ जिसमें केवल मात्र मानव-जाति या मानव समाज ही नहीं, प्रत्युत समूची चराचर जीव-सृष्टि समाई हुई है। मानव और मानवेतर, स्त्रीलिंग और पुल्लिंग के भेद से भी सर्वथा मुक्त। हर जीव का जोड़ा यहाँ सर्वव्यापी परमात्मा और उसकी ‘शक्ति’ का ही संयुक्त रूप और लघु संस्करण है। यह कोई अमूर्त रहस्यवाद नहीं, दिखाई-सुनाई देनेवाली ठेठ चराचरमूलक, चराचरवादी विश्व-दृष्टि है और यह भारत की धर्म-चेतना में ही अन्तर्निहित विश्व-दृष्टि है। जैसा कि प्रसाद-निराला के परवर्ती आधुनिक दौर के सबसे बड़े कवि-चिन्तक अज्ञेय ने भी कहा है “किसी भी मतवाद से निरपेक्ष धर्म की उद्भावना ही विश्व को भारत की सबसे मूल्यवान देन है।” ... सवाल यह है कि क्या इस ‘देन’ को, इस सबसे न्यारी धार्मिकता और मूल्य-चेतना को विश्व-स्तर पर यथोचित और यथातथ्य समझा और स्वीकारा गया है विश्व-सभ्यता का सबसे पुरजोर दावा करनेवालों द्वारा?

किन्तु हिन्दी का यानी स्वयं को भारतीय भाषाओं का लघुतम समावर्त्य और महत्तम समापवर्तक साबित कर चुकी, भारत की समग्र अस्मिता को वहन करनेवाली हिन्दी का यह विश्व-चेतस् स्वरूप आत्मालोचन की दृष्टि से भी सदैव सजग-सावधान रहा है, जो कहना न होगा, बेहद जरूरी है : हमारी आत्मतुष्टि को झिंझोड़ते रहने के लिए। यह आत्मतुष्टि और अविचारित गौरव-भाव हमारी दूसरी दुर्बलता या दुर्गुण है जो हमारे शिक्षित वर्गों में खासकर सर्वाधिक राष्ट्रवादी तेवर दिखानेवालों की कथनी और करनी में अक्सर पाया जाता है। कदाचित् इसी छिद्र को लक्ष्य करते हुए हमारे राष्ट्रकवि ने अपनी ‘भारत-भारती’ में ही हमें चेता देना जरूरी समझा था कि

*गौरव जताने में यहाँ, उत्साह का लगता पता।
बस बाद में ही वाग्मिता, पर-अनुकरण में सभ्यता ॥*

यह तो हुए हमारे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त। अब उनके साथ-ही-साथ उनके परवर्ती प्रसाद जी के भी आलोचनात्मक विवेक का रंग पहचान लें। ‘काव्य और कला’ शीर्षक अपने प्रख्यात निबन्ध में वे क्या कह रहे हैं, जरा ध्यान से सुनें : यह आज से कोई अस्सी वर्ष पहले लिखे गए थे। वे कहते हैं

“इस युग की ज्ञान-सम्बन्धिनी अनुभूति में भारतीयों के हृदय पर पश्चिम की विवेचना-शैली का व्यापक प्रभुत्व क्रियात्मक रूप में दिखाई देने लगा है, किन्तु साथ-ही-साथ ऐसी विवेचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप में भारतीयता की भी दुहाई सुनी जाती है। परिणाम में, मिश्रित विचारों के कारण हमारी विचारधारा अव्यवस्था के दलदल में पड़ी रह जाती है।”

इतना ही नहीं, प्रसाद जी इससे आगे जिस तरह अपने हृदय की बात का खुलासा भी कर देते हैं, वह आज के हमारे विचारणीय विषय में उसके निमित्त-प्रसंग को भी पूर्वपिछित कर देता प्रतीत होता है। वे कहते हैं

“यह मानते हुए कि ज्ञान और सौन्दर्य विश्वव्यापी वस्तु हैं, इनके केन्द्र देश, काल और परिस्थिति-वश तथा प्रधानतः संस्कृति के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं।”

मित्रो! उक्त ‘भिन्न-भिन्न अस्तित्व (संस्कृति के कारण)’ वाली बात पर जरा गौर फरमाएँ। क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि अब आज की तारीख में उक्त प्रसादीय विवेक की प्रासंगिकता और भी प्रखर और सांगोपांग रूप धरके हमारे सामने कहें, दुनिया के सामने उजागर हो रही है। इसका अद्यतन दृष्टांत है, राजीव मल्होत्रा की एक मूलतः अँग्रेजी में, किन्तु श्री देवेन्द्र सिंह द्वारा हिन्दी में अनूदित पुस्तक जिसका नाम ही ‘विभिन्नता’ है, और जो अपने उपशीर्षक ‘पाश्चात्य सार्वभौमिकता को भारतीय चुनौती’ को अक्षरशः चरितार्थ करने वाली कृति है। पहली ही प्रतिक्रिया जो इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ जाने के बाद हमारे जैसे पाठकों की होती है और होनी चाहिए, वह यह है कि यह जिन पाश्चात्यों को मुख्यतः सम्बोधित है, उनसे भी पहले या उनके साथ-साथ हम पौर्वात्यों को यानी भारतीयों को भी अवश्यमेव यह पुस्तक पढ़ लेनी चाहिए। प्रथमतः इसलिए कि ‘दूसरे’ को उसके दूसरेपन में यथातथ्य जाने-पहचाने बिना उसके प्रति हमारा आत्मीय भाव भी अधूरा और इसीलिए अयथार्थ रह आता है, और दूसरे, इसलिए, कि स्वयं अपनी भारतीय विश्व-दृष्टि और धर्म-दृष्टि के बारे में हमारी जानकारी में छिद्र-ही-छिद्र हैं। ‘छिद्रेषु अनर्थाः बहुली भवन्ति’। इस कारण हममें से बहुतों को यह पुस्तक ढेर सारी पुस्तकों में एक और पुस्तक की तरह नहीं, बल्कि पाठ्य-पुस्तक की तरह पढ़नी पड़ेगी।

बहरहाल, इस ग्रन्थ के प्राक्कथन में ही ग्रन्थकार इसके लिखे जाने का औचित्य और उद्देश्य स्पष्ट कर देते हैं। कहते हैं

“भारत को केवल प्राचीन और नवीन के एक पुलिन्दे की तरह नहीं देखा जा सकता, जिसे बिना किसी नैसर्गिक एकता के कृत्रिम ढंग से जोड़ दिया गया हो। न तो भारत पश्चिमी आधुनिक जीवन-शैली के कुछ हिस्सों का एक विचित्र संग्रह भर है और न ही वह वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था में एक कनिष्ठ भागीदार। भारत की स्वयं एक विशिष्ट और एकीकृत सभ्यता है, जिसकी तमाम गहन मतभेदों का समाधान करने की, विभिन्न संस्कृतियों, सम्प्रदायों और दर्शनों के साथ रचनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की और मानवता की कई विविध धाराओं को शान्तिपूर्वक समाहित करने की क्षमता सिद्ध हो चुकी है। भारतीय सभ्यता के मूल्य देवत्व, ब्रह्माण्ड और मानवता विषयक अनुभूतियों-विचारों पर आधारित हैं, जो पश्चिमी सभ्यता की मौलिक अवधारणाओं के विपरीत हैं। मैं इस भारतीय-धार्मिक परिदृश्य का उपयोग करते हुए उस विश्लेषणात्मक दृष्टि को उलट देना चाहता हूँ, जो प्रायः पश्चिम से पूर्व की ओर केन्द्रित होता है और अनजाने ही पश्चिम को विशेषाधिकार प्रदान कर देता है।”

यह उद्देश्य पाठक देखेंगे यह ग्रन्थ बड़े सधे ढंग से और प्रामाणिक दृढ़ता के साथ कई सारे प्रासंगिक ब्यौरों में जाकर पूरा करता है। प्रथम तीन अध्यायों में पश्चिम की इतिहास-केन्द्रिकता तथा उसकी भीतर से विभाजित और द्वैतवादी विश्वदृष्टि को जबरदस्ती एकसूत्रित करने की ज़द्दोज़हद का खुलासा करते हुए दर्शाया गया है कि किस तरह यह बलात्कृत एकता मूलतः कृत्रिम और अस्थायी है; जबकि इसके ठीक उलट भारतीय धार्मिक परम्पराओं में ब्रह्माण्ड की अखण्ड एकता की अवधारणा मत-मान्यताओं की विविधता और बहुलता के प्रति अधिक टिकाऊ और तनाव-मुक्त दृष्टिकोण रखती और निभाती आई है। चौथे अध्याय में राजीव पश्चिमी विचारकों और टिप्पणीकारों द्वारा भारतीय जीवन-पद्धति और संतुलनकारी रीति-नीतियों पर लगाए गए अव्यवस्था और अराजकता के आरोपों के सचोटे प्रत्याख्यान में प्रवृत्त होते हैं। वे प्रमाणपुष्ट ढंग से इस आलोचना पर पलटवार करते हुए उसे उलट देते हैं यह बखूबी दर्शाते हुए, कि तथाकथित अव्यवस्था और व्यवस्था के प्रति पश्चिम का सोच भारतीय धार्मिक दृष्टिकोण से कितना और किस प्रकार भिन्न है।

उदाहरण के लिए अच्छाई-बुराई का द्वैतवाद, जो यहूदी और ईसाई मतों में स्थायी रूप से स्थापित है। इसके विपरीत हिन्दू धर्म में किसी बाहरी शैतान अथवा ईसा-विरोधी अवधारणा का कोई समतुल्य नहीं है। हमारा धर्म तत्त्वज्ञ ही नहीं, महाकवि भी स्पष्ट कहता है अपने महाकाव्य में, कि ‘कहेउ बेद इतिहास पुराना/ विधि-प्रपंच गुन-अवगुन साना’। यह पुस्तक भी इसी तारतम्य में दर्शाती है कि “यहाँ कोई ब्रह्मविरोधी, ईश्वर-विरोधी अथवा शिव-विरोधी नहीं है, क्योंकि अच्छाई और बुराई जटिल रूप में परस्पर गुँथे हुए हैं। हिन्दू विश्वदृष्टि निश्चय ही अधर्म को क्षमा नहीं करती, किन्तु साफ-साफ जताती है कि अच्छाई और बुराई मानव-व्यक्ति के

भीतर ही स्थित हैं तथा उन्हें किसी बाहरी नियन्त्रण से नहीं; बल्कि अपनी चेतना की जागृति से ही काबू किया जा सकता है।” असल में पश्चिम की ज्ञान-मीमांसा ‘या तो यह, या फिर वह’ यानी ‘Either-or’ के मताग्रह से परिचालित रही है, जबकि अपने यहाँ ‘यह भी और वह भी’ ‘दिस ऐज वैल एज दैट’ का अनुभवसिद्ध प्रमाण ही स्वाभाविक और निर्णायक महत्त्व प्राप्त करता है। राजीव यहाँ ‘रिचर्ड लेनॉय’ को उद्धृत करते हैं जिसके अनुसार, “भारतीय समावेशी परम्परा अच्छाई और बुराई के दो विरोधी ध्रुवों से कहीं अधिक गहराई के धरातल पर काम करती है। यहूदी और ईसाई मतों में सही या गलत के विपरीत विकल्पों में से एक को चुनने की अनिवार्यता जैसा आग्रह भारतीय धार्मिक परम्पराओं में नहीं है। भारतीय नैतिक सिद्धान्तों में अच्छाई और बुराई हमेशा सापेक्ष होती है और मूलभूत रूप से ‘अच्छे’ या ‘बुरे’ की किसी निर्णायक सटीक परिभाषा से दूर रखा जाता है।”

आगे राजीव मल्होत्रा ने यह भी दर्शाया है कि भारतीय दृष्टिकोण में ‘सत्य’, ‘अच्छाई’ और ‘सौन्दर्य’ के क्षेत्र किस प्रकार भिन्न हैं और प्रत्येक दूसरों से अपेक्षाकृत स्वतन्त्र रूप से क्रियाशील है। पश्चिम में प्रायः इस तिकड़ी का प्रत्येक भाग बाकी दोनों पर एकपक्षीय ढंग से आरोपित हो जाता है। राजीव बताते हैं कि इसकी जड़ में पश्चिम की दो परम्पराएँ हैं बाइबिल के ‘चुने हुए लोग’ सम्बन्धी अवधारणा और प्रकाश, समरूपता एवं रूप की शुद्धता सम्बन्धी यूनानी आग्रह। यह भी, कि भारतीय संस्कृति में अरण्य की खास भूमिका और महत्त्व है; जबकि दूसरी ओर मरुस्थली परिवेश ने इब्राहमी मतों को आकार दिया। हम आरण्यक भारतीय जन प्रकृति की दिव्यता का सम्मान करते हैं और उसे शैतान से कदापि नहीं जोड़ते। यह भी नहीं मानते कि ईश्वर ने मनुष्य को इस सृष्टि पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने या उसका निरंकुश उपभोग करने के लिए बनाया है। प्रकृति और उसके चराचर जीव एक ही ब्रह्माण्डीय परिवार का अंग हैं। भारतीय सभ्यता राजीव के शब्दों में ‘वटवृक्ष’ के समान एक ऐसी रचना है, जिसका कोई केन्द्रीय नियन्त्रक नहीं है; वह आन्तरिक और बाह्य दोनों रूपों में अन्तर्गठित एक खुली संरचना है : स्वभावतः समावेशी और विविधता का बढ़ावा देने वाली।” इसी अध्याय का समापन करते हुए लेखक ने ‘पश्चिमी जोकर और भारतीय विदूषक’ के तुलनात्मक सन्दर्भ का अपनी विषय-वस्तु के सार्थक निरूपण के लिए बड़े प्रभावशाली ढंग से इस्तेमाल किया है। अराजकता के प्रति पश्चिमी मानस में गहरे पैठे भय का उदाहरण है हालीवुड के बैटमैन की फिल्में। जबकि, दूसरी ओर संस्कृत नाटकों में अराजकता को जिस विदूषक के जरिए साकार किया जाता है, वह विदूषक अपने राजा से जो कि व्यवस्था के रूप में धर्म की रक्षा करता है विरोधाभासी और द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध रखते हुए भी विशेषाधिकार पाता है। इस तरह राजीव मल्होत्रा के अनुसार व्यवस्था का प्रतीक ‘आकार सदृशः प्रज्ञः’ वाला सुन्दर राजा और अराजकता

का प्रतीक विकृत चेहरेवाला विदूषक न केवल एक-दूसरे से अविभाज्य हैं, बल्कि सहकर्मी जैसे हैं एक-दूसरे के प्रति समान और मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखते हुए।

इस पुस्तक को पढ़कर पाठक के चित्त में यह बात बैठ जाती है कि अब पुरानी लीक पीटना व्यर्थ है : वैश्विकता या विश्व-बोध या तुलनात्मक धर्म-दर्शन की चर्चा भी मात्र सदाशयी भावुकता और अनालोचित इकतरफा सहिष्णुता और सतही समानता की रटन्त से नहीं की जा सकती। एक भ्रामक विश्वयारी को विश्वबन्धुत्व के आसन पर नहीं बिठाया जा सकता; न परम्परागत और आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के वर्चस्वमूलक पूर्वग्रहों के कटु यथार्थ का सीधा सामना करने से कतराते रहने से ही अब काम चलने वाला है। अपने दुलमुलपन का बहुत महंगा मोल हमने चुकाया है, जिसे आगे भी चुकाते रहने को हम कदापि अभिशप्त नहीं हैं।

ऐसा भी नहीं है कि हमारे निकट अतीत में इस तरह की सजगता और चिन्ता कभी व्यक्त की ही नहीं गई। हमारे स्वाधीनता-संग्राम की शुरुआत में ही इतिहास-विधाता ने हमारे बीच दो-दो विभूतियाँ ऐसी उपजाई, जिन्होंने भारत की अपनी सभ्यता और विश्व-दृष्टि की पक्की पहचान के आधार पर ही राष्ट्रनिर्माण की राह दिखाई थी। यह अकारण नहीं है कि राजीव अपनी पुस्तक में इन दोनों विभूतियों के योगदान का यथास्थान और भरपूर उल्लेख-विनियोग करते हैं। चूँकि उनका क्षेत्र धर्मदर्शन का है, और श्रीअरविन्द का जीवन-कार्य इस क्षेत्र में विशेष प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण ठहराता है, अतएव श्रीअरविन्द को अधिक विस्तार से उद्धृत किया गया है। किन्तु महात्मा गाँधी का 'हिन्द स्वराज' और श्री अरविन्द का 'फाउण्डेशन्स ऑफ इण्डियन कल्चर', दोनों ही इस पुस्तक के प्रणेता के लिए विशेष महत्त्व रखते हैं। एक में मानो हमारी सभ्यता के 'सुपरस्ट्रक्चर' का शंखनाद नए सिरे से और नई कालज्ञता (अर्जेन्सी) के साथ सुनाई पड़ा था और दूसरे में उसी सभ्यता के क्षत-विक्षत 'इन्फ्रास्ट्रक्चर' के कार्याकल्प की आवश्यकता का आह्वान किया गया था। सवाल उठता है स्वभावतः, कि आखिर क्या बात है कि स्वातन्त्र्योत्तर काल में इन्हीं शलाका-पुरुषों के योगदान की सर्वाधिक उपेक्षा हुई? इस विकट और दुर्दान्त प्रश्न के सामने हमें उस कालखण्ड में ही विद्यमान हमारी सबसे तगड़ी दार्शनिक मेधा का स्मरण और पुनराह्वान करना होगा। यूँ तो इन पंक्तियों के लेखक ने जब से लिखना शुरू किया, तभी से वह इस प्रसंग को बारम्बार दोहराता रहा है, किन्तु राजीव मल्होत्रा की यह पुस्तक उसे इस प्रकरण को फिर से रेखांकित करने की प्रेरणा दे रही है। यह आज से कोई तीस वर्ष पहले की घटना है, जब महात्मा गाँधी के पौत्र और स्वयं भी दर्शन के प्रोफेसर स्व. रामचन्द्र गाँधी ने मुझे कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य का एक विस्मृतप्राय व्याख्यान लाकर दिया था 'स्वराज इन आइडियाज' शीर्षक। उसे तब पढ़ना मेरे लिए उसी तरह का उत्तेजक अनुभव था, जैसा अब आज राजीव मल्होत्रा की इस पुस्तक से गुजरने का अनुभव है। भट्टाचार्य का यह लेख मानो इस पुस्तक को पूर्वापेक्षित करता हुआ, सचमुच उसके

पूर्वाभास की तरह लगने लगता है। उस व्याख्यान को पढ़कर मेरी आँखें खुल गई थीं। इस किताब से भी उसके मर्म की पुष्टि होती है। इसमें पहली बार कायदे से और पूरी तैयारी और दमखम के साथ पश्चिम को अपना पूर्वपक्ष बनाकर उसके साथ सचमुच बराबरी के स्तर पर तगड़ा संवाद करने और उसे उसकी बुनियाद पर ही चुनौती देने की पहल सम्भव हुई है। किन्तु, दार्शनिक कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने यह व्याख्यान हुगली कालेज के प्रिंसिपल पद पर काम करते हुए सन् 1927 में ही दे दिया था। यह अवसर मुझे प्रेरित कर रहा है कि उस दिशासूचक और बेहद महत्त्वपूर्ण व्याख्यान में उठाए गए मुद्दों को संक्षेप में सिलसिलेवार आपके सामने फिर से रेखांकित किया जाए। यह आज की हमारी विषय-वस्तु को भी समझने और मूल्यांकित करने में मददगार होगा। तो, ...लीजिए सुनिए हमारा उस वक्त का सबसे तगड़ा दार्शनिक हमसे क्या कह रहा है उस 'वैचारिक स्वराज' की आवश्यकता को प्रतिपादित करते हुए, जिससे राजीव मल्होत्रा की प्रस्तुत पुस्तक भी अपने ढंग से अनुप्राणित जान पड़ती है। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के कथनानुसार,

1. सांस्कृतिक गुलामी अवचेतन स्तर पर हमें जकड़े हुए है। यह तब उपजती है, जब विचारों-भावनाओं का हमारा पारम्परिक ढाँचा बगैर किसी स्पर्धा या तुलना के एक विजातीय साँचे के द्वारा विस्थापित कर दिया जाता है। तब वह विजातीय सभ्यता एक प्रेत की तरह हमसे चिपट जाती है।
2. तिस पर शिक्षा का समूचा तन्त्र ही हमारा ऐसा है कि पाश्चात्य संस्कृति ही हमारे भीतर सबसे पहले पैठ जाती है। जबकि, अपनी प्राचीन संस्कृति को हमारी चेतना इस तरह आत्मसात् नहीं कर पाती।
3. पाश्चात्य संस्कृति हम पर लादी तो गई। परन्तु हमने खुद उसकी माँग की थी। हममें जागरूकता होती, स्वाभिमान होता तो आँखें खुली रखके उसे पचाते। पर वैसा नहीं हुआ। उल्टे, हमारा जो परम्परागत मस्तिष्क था, मन था, वही हमारी चेतना से विच्छिन्न होकर अवचेतना में जा धँसा।
4. इस तरह हमारी चेतना पर हावी हो गए ये विजातीय विचार एक 'शैडो माइण्ड' को उपजाते हैं और जैसा कि लाजिमी है, यह शैडो माइण्ड (छाया-मस्तिष्क) कभी भी सृजनात्मक नहीं हो सकता। अनुकारी ही हो सकता है सारे ऊपरी तेजतरारपन के बावजूद। हमारा अपना देसी माइण्ड इस 'शैडो माइण्ड' द्वारा विस्थापित और बेदखल कर दिया गया है।
5. इसी स्थिति के चलते हम अपने बारे में दूसरों के यानी हम पर विजयी और हावी हो चुकी विजातीय सभ्यता के फैसलों को ज्यों-का-त्यों कबूल

कर लेते हैं। या फिर एक नपुंसक नाराजगी में कैद मन-ही-मन कुदते रहते हैं।

6. हमारी राजनीति में शक्ति की कोई मौलिक कल्पना या 'पर्सेशन' नहीं। चाहे हमारा निर्विचार परम्परावाद हो, चाहे काल्पनिक मनमाना प्रगतिवाद हो, दोनों ही मुद्राएँ हमारी निहायत नकलची हैं।
7. जगद्गति सबको व्यापती है। बदलती हुई जगत्-गति के साथ तालमेल बनाए रखना अनिवार्य है। किन्तु यहाँ पैबन्दों से काम नहीं चलता।
8. इस विडम्बना और मतिभ्रम से उबरने के लिए विजातीय आक्रामक सभ्यता के साथ एक सुनिश्चित टकराव और संघर्ष अनिवार्य है; पर यह तभी सम्भव है, जब हम अपनी सभ्यता के बुनियादी मूल्यों-प्रतिमानों के प्रति गम्भीर हों।
9. इस संघर्ष की प्रक्रिया में सचमुच उतरने पर हम पाएँगे कि पश्चिम के साथ संश्लेषण या 'सिन्थेसिस' हर जगह जरूरी नहीं है।
10. विश्ववाद के पक्ष में भी हमारी गतिविधियाँ तभी सार्थक होंगी, जब सारी तर्क-बुद्धि एक सुदीर्घ आत्म-मन्थन की प्रक्रिया से गुजरेगी। यहाँ बुद्धिवाद श्रद्धा का विलोम नहीं, बल्कि गहरे में अन्तर्निहित श्रद्धा द्वारा ही प्रेरित और परिचालित होता है। इसके ठीक विपरीत दिशा वह है, जिसमें हम एक सतही और कामचलाऊ यान्त्रिक समझ द्वारा ही काम चलाने के आदी हो चुके हैं।
11. वास्तविक सांस्कृतिक आत्मविश्वास प्राप्त करने के लिए हमें संकीर्ण राष्ट्रवाद और मिथ्या देशाभिमान से ऊपर उठना होगा।
12. वास्तविक रूप से सार्वभौम केवल आत्मा, यानी 'स्पिरिट' है। तर्क या 'रिलीजन' नहीं।
13. जब हम अपने जनमानस के भीतर गहरे भिदे संस्कारों-विचारों के अनुसार उनसे उनकी अपनी शब्दावली और अपनी शर्तों पर सोचना नहीं सीखते, तब तक हमारे सोचे-किए का उन पर कोई असर नहीं पड़ेगा। मसलन, जाति-प्रथा के निन्दक हमारे बुद्धिजीवी अपने-आप में एक जाति-व्यवस्था में जड़ीभूत हो चुके हैं, जो पहले से भी बदतर है।

राजीव मल्होत्रा की पुस्तक का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य है पश्चिमी सार्वभौमिकता के दावों का खण्डन करना। इन दावों के मुताबिक पश्चिम ही विश्व-इतिहास का चालक और नियन्ता है। हेगल का सारा दार्शनिक अध्यवसाय इसी सार्वभौमिकता को स्थापित करने को समर्पित जान पड़ता है। यहाँ तक कि, इस पुस्तक में जहाँ काण्ट का जिक्

आया है, उससे भी कुछ इसी तरह के मनोभाव का सूचन होता है। मगर, जैसा कि हमने ऊपर देखा भारतीय दार्शनिक कृष्णचंद्र भट्टाचार्य का मानना है कि सार्वभौम केवल 'आत्मा' होती है, तर्क या धर्म नहीं। अब हेगल भी बात तो 'स्पिरिट' की करता है। क्या 'स्पिरिट' से भट्टाचार्य का वही आशय है, जो हेगल का है? अपनी सहज बुद्धि यही सुझाती है कि भारतीय तत्त्वज्ञान जिसे 'आत्मा' कहता है और पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा का प्रतिनिधि हेगल जिस 'स्पिरिट' की बात करता है, जिसके आधार पर पश्चिम का सार्वभौमिकता का दावा प्रतिष्ठित है, उनमें कुछ तो फर्क होगा। वह फर्क क्या है? भट्टाचार्य का उपर्युक्त 'वैचारिक स्वराज' वाला निबन्ध इसमें हमारी मदद नहीं करता। क्या राजीव मल्होत्रा इस पर कुछ सोचने-कहने को प्रेरित हुए हैं? वैसे उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "पश्चिम एक साँचा प्रदान करता है, जिसमें सभी सभ्यताओं और संस्कृतियों को बैठना ही है। पूर्वपक्ष को पलटने से हम उन तरीकों का पर्दाफाश कर सकते हैं, जिन्होंने भारतीय धार्मिक परम्पराओं के प्रति गलतफहमियाँ फैलाकर उनकी अवमानना की है।" ... स्पष्ट ही तब इनमें आत्मा की भारतीय अवधारणा का विरूपण भी शामिल है। इसी अध्याय पाँच के अन्तर्गत 'अरूपान्तरणीय संस्कृत शब्द और उनके पश्चिमी पाचन' का खुलासा करते हुए राजीव मल्होत्रा ने ब्रह्म या ईश्वर को 'गॉड' का समानार्थी मान लेने का खंडन किया है, और उसी तरह धर्म को 'रिलीजन' का और वेद को भी 'बाइबिल' अथवा 'गौस्पेल' का समतुल्य ठहराने का भी खण्डन किया है, उसी दृढ़ता के साथ उन्होंने यह भी युक्तियुक्त ढंग से दर्शाया है कि क्यों 'आत्मा' को Soul अथवा स्पिरिट नहीं कहा जा सकता। उन्हीं के शब्दों में

"हिन्दू धर्म में व्यक्ति की सच्ची अस्मिता को आत्मा के रूप में जाना जाता है। 'आत्मा' परम, सर्वोच्च एवं उत्कृष्ट ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है तथा इस प्रकार वह यहूदी-ईसाई अवधारणा की Soul या Spirit से एकदम भिन्न है। बहुत से ईसाई इस सोच को पसन्द नहीं करते कि Soul के बारे में उनकी अवधारणा आत्मा की तुलना में सीमित है, फिर भी वे उस विशिष्ट इतिहास पर अपनी निर्भरता त्यागने को तैयार नहीं, जो स्वयं ही इन सीमाओं का आधार है।"

"आत्मा की भारतीय अवधारणा 'पुनर्जन्म' और 'कर्म' की अवधारणाओं से जुड़ी हुई है। ...वास्तव में, यदि ईसाई मतानुसार मानव की अवस्था के वर्णन में मूल पाप (ओरीजिनल सिन) को कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त से विस्थापित कर दिया जाए तो उनका पूरा इतिहास-केन्द्रिक ढाँचा अपने स्वर्ग और नरक की अवधारणाओं समेत भरभराकर ध्वस्त हो जाएगा।"

अब हेगल की 'विश्वात्मा' भी तो अन्ततः इसी इतिहास-केन्द्रिक ढाँचे का पुनर्नवीकरण जैसा ही करती है। इसी अध्याय के 'हेगल का पश्चिमी मिथक' (पृ. 347-49) शीर्षक खण्ड में राजीव हमें याद दिलाते हैं कि हेगल का दार्शनिक

अध्यवसाय भारत के अतीत के प्रति फैले जर्मन रोमैण्टिकों के जुनून की प्रतिक्रिया के रूप में प्रगट हुआ। अद्वैतवाद के भारतीय दृष्टिकोण को अपनाने के बावजूद और साथ-साथ ही उसने भारतीय सभ्यता की उपयोगिता को निरस्त करने में भी अपनी जान खपाई। क्यों? इसलिए, कि “उसने यह माना हुआ था कि पश्चिम और केवल पश्चिम ही इतिहास और प्रयोजनवाद का एकमात्र प्रतिनिधि है। इसलिए उसने भारत को ‘जड़ सभ्यता’ मानकर उसकी तुलना में पश्चिम को परिभाषित किया। राजीव मल्होत्रा ने अन्य विचारकों से हेगल के भेद और वैशिष्ट्य को ठीक-ठीक परखते हुए ही हेगल को यह श्रेय दिया है कि यूरोपीय ‘एनलाइटनमेण्ट’ के संस्थापक के रूप में उसने इतिहास के एक शक्तिशाली और प्रभावकारी दर्शनशास्त्र का विकास किया, जिसमें सभी सभ्यताओं का भूतकाल और वर्तमान एक ही साँचे में समाहित कर दिया गया।” साथ ही हेगल ने अब्राहमी परम्पराओं की इतिहास-केन्द्रिकता और उनके Salvation के कथानकों को गहरे में आत्मसात् करते पुनर्निर्मित किया एक अधिक धर्मनिरपेक्ष और व्यापक सन्दर्भ में।

निश्चय ही यह पाश्चात्य दर्शन और धार्मिकता के इतिहास को देखते हुए एक महत्वपूर्ण घटना थी और इसने विश्वस्तर पर विचारकों को प्रभावित किया है। सवाल यह है कि पाश्चात्य सार्वभौमिकता के इस तरह पुनर्नवीकृत दावे को अर्थात् हेगल के विश्ववाद और इतिहासवाद को आधुनिक भारत के विचारकों में से क्या किसी ने कभी चुनौती दी है? यह भी, कि स्वयं राजीव मल्होत्रा ने उसका कैसा-क्या खण्डन किया है? राजीव का कहना है कि

“धर्म से अलग होते हुए और एक विशुद्ध ग्रीक धर्मनिरपेक्ष तर्क प्रणाली को अपनाने से हेगल का भव्य कथानक कई मायनों में यहूदी-ईसाई मुक्ति (Salvation) के इतिहास की प्रतिच्छाया जैसा है। इस तरह हेगल की ‘वर्ल्ड स्पिरिट’ अर्थात् विश्व-प्रवृत्ति इसी इतिहास की समर्थक है, जिसके अनुसार ‘पश्चिम असाधारण है क्योंकि वह इस यात्रा का नेतृत्व करने के लिए पूर्वनिर्दिष्ट है, जबकि अन्य सभ्यताओं को उसके पीछे चलना होगा या फिर मिट जाना होगा।”

क्या है हेगल की यह प्रछन्न इतिहासवादी विश्व-प्रवृत्ति? राजीव के कथनानुसार ...“वह समग्र मानवता को लिए हुए एक कृत्रिम एकता है। यह पश्चिम को विशेषाधिकार से मण्डित करती है और जो इस योजना में फिट नहीं बैठते, वे इतिहास का हिस्सा ही नहीं हैं।” भूगोल भले सभी मानव-प्राणियों का एक हो, परन्तु इतिहास एक नहीं है। नीचे से ऊपर की ओर विकसित होनेवाली यह ‘स्पिरिट’ हेगल के अनुसार ईश्वर की योजना है और विश्व इतिहास-विधाता (हमारे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी प्रिय शब्द ध्यान दें) की योजना के सिवाय और कुछ नहीं है। विश्व ईश्वर द्वारा संचालित होता है और विश्व-इतिहास उनके प्रशासन का तत्त्व तथा उनकी योजना का क्रियान्वयन है।

परन्तु राजीव का मानना है कि हेगल द्वारा प्रस्तावित एकता जातिवादी है, जहाँ पश्चिम ही ब्रह्माण्ड के केन्द्र में है। वैश्विक इतिहास इस दृष्टिकोण से पूर्व से पश्चिम की ओर जाता है। यूरोप पूर्णतः सार्वभौमिक इतिहास का अन्तिम छोर है, जबकि एशिया उसका प्रारम्भ। उसके प्रागैतिहासिक रंगमंच में वे देश आते हैं, जो इतिहास विधाता द्वारा नहीं चुने गए। जैसे अफ्रीकी और मूल अमरीकी। वे हेगल के कथनानुसार ‘मूर्ख और अज्ञानी बच्चे’ हैं। रहा भारत, तो उसके बारे में हेगल का स्पष्ट अभिमत है कि ‘भारत का कोई इतिहास ही नहीं है।’ हेगल का ईश्वर स्वयं तर्कसंगत है और उसने पश्चिम को ही तर्कबुद्धि से सम्पन्न किया है। इसलिए वह इतिहास की संचालक शक्ति है। राजीव के अनुसार, “भारत के प्रति हेगल अजीब ढंग से भयभीत और अन्ध प्रतिक्रियाग्रस्त है।” हेगल की दृष्टि में भारत स्वयं कुछ ठोस कार्य करने की बजाय विश्व-इतिहास के नायकों का पिछलग्गू बना रहा। यह भी, कि “भारतीय मनीषा की सहज प्रकृति ऐतिहासिक सत्य नहीं है, केवल सपने ही उपजाने में सक्षम है। भारतीय बुद्धि कल्पना और अराजकता में खोई हुई है और उसमें विशिष्टता के स्पष्ट भाव की और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भारी कमी है। यह ऐसा दमनकारी समाज है, जिसमें धार्मिकता और निरंकुश कामुकता अपने चरम पर है। इसीलिए भारत शैशवावस्था में फँसा हुआ है, उसका विकास स्थगित है और वह स्वयं परिपक्व होने में असमर्थ है। यह पश्चिम का दायित्व था कि वह भारत को उपनिवेश बनाकर उस पर शल्यक्रिया करे।”

भारत के बारे में इसी हेगलीय समझ को कार्ल मार्क्स द्वारा बनाए रखा गया। सारांश यही, कि “हेगल के इतिहासवाद ने पश्चिम की उदार-पंथी श्रेष्ठता को बढ़ाने में प्रमुख भूमिका निभाई जो सार्वभौमिकता प्रदान करने की धारणा के पीछे छुपी रहती है। यूरोपीय ‘एनलाइटनमेण्ट’ से लैस ये पूर्वधाराणाएँ शिक्षा-दर्शन, भाषाशास्त्र, समाज-विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धतियों के संगम में सम्मिलित कर ली गईं और ये सभी ईसाई मतवाद के साथ-साथ विभिन्न साम्राज्यवादी और औपनिवेशिक मूल्यों से संचालित रहीं।

राजीव ने इसी अध्याय में एक तालिका के द्वारा दर्शाया है कि भारत के पश्चिमी अध्ययनों में बड़ी संख्या में भारतीय विद्वानों को हड़प लिया गया है। वे उत्तर-उपनिवेशवादी विद्वानों को भी बखूबी पहचानते हैं, जिन्होंने पश्चिमी एकाधिपत्यवादी विचारों को चुनौती तो दी, लेकिन धार्मिक आधारों पर खड़े होकर नहीं। राजीव मल्होत्रा के लिए ये धार्मिक आधार सर्वाधिक निर्णायक महत्त्व के हैं। धार्मिक श्रेणियों का उपयोग सिर्फ भारतीय सभ्यता के अवलोकन हेतु नहीं, प्रत्युत् पाश्चात्य सभ्यता के अवलोकन के लिए करना उनकी प्राथमिक अभीप्सा और लक्ष्य हैं। वे साफ-साफ कहते भी हैं कि धार्मिक श्रेणियों का आधिकारिक उपयोग कर सकनेवाले विद्वान बहुत ही दुर्लभ हैं और उनकी संख्या बढ़ाना ही उनका लक्ष्य है। यह पुस्तक निश्चय ही इस

लक्ष्य को समर्पित है और निराशा के कर्तव्य की तरह नहीं, बल्कि आशा और आस्थाजनित कर्तव्य की तरह उनके समानशील को सम्बोधित करती है। इसमें उन्हें सर्वाधिक प्रेरणा और पुष्टि श्री अरविन्द और महात्मा गाँधी से मिली है। मुझे ऐसा लगता है कि मध्यकालीन ईसाई रहस्यवादियों (जिन्हें चर्च ने नकारा) और भारतीय तत्त्वज्ञान तथा कला के मर्मज्ञ आनन्द कुमार स्वामी को तथा हेगेलोत्तर पाश्चात्य दार्शनिक हाइडेगगर जिसने पाश्चात्य दर्शन-परम्परा को 'कॉन्सेप्चुअल कण्ट्रोल् ऑव दि यूनिवर्स' की तरह परिभाषित करते हुए भाष्यात्मक चिन्तन की नई लीक डाली तथा जो देरिदा इत्यादि उत्तर-आधुनिक विखण्डनवादियों का प्रेरणास्रोत बना, उसके तथा उसके सबसे अधिकारी प्रवक्ता दर्शनाचार्य जे.एल. मेहता को भी इस पुस्तक में स्थान मिलना चाहिए था। साथ ही, श्री अरविन्द के बाद या साथ-साथ जो योगी-रहस्यदर्शी यहाँ प्रकट हुए और जिनका लिखा या बोला यूरोपीय शिष्यों की बदौलत ही सही, हमें आसानी से उपलब्ध है प्रकाशित रूप में, उनका साक्ष्य भी इस पुस्तक की प्रतिपाद्य विषय-वस्तु के लिए प्रासंगिक और पुष्टिकारक हो सकता है। जैसे विशुद्धानन्द परमहंस, रमण महर्षि, निसर्गदत्त, मंगतराम, श्री अनिर्वाण (जो उच्चकोटि के साधक-योगी होने के साथ ही साथ अभिव्यक्ति-कुशल आचार्यत्व से सम्पन्न थे।) इत्यादि ...। ये सब उसी 'अभिन्न एकता' के ही मर्मी और प्रत्यक्ष वस्तु-पाठ सरीखे महापुरुष हैं, जो इस ग्रन्थ के रचयिता राजीव मल्होत्रा का प्रतिपाद्य पक्ष है।

दूसरी दुनिया और मैं

शंकर पुणताम्बेकर*

मैं पहली सामान्य दुनिया का आदमी दूसरी विशेष दुनिया पर लिखने को बाध्य हूँ। जो मस्तिष्क में है वह न लिखूँ तो अपने शब्दों के प्रति मैं बेईमान हूँ यह कचोट मन को खाती रहेगी।

यह दूसरी दुनिया अमरीकी या यूरोपीय दुनिया नहीं है या स्वर्ग की ही। यह तो हमारे ही फुटपाथ के समानांतर चलनेवाली सड़क की दुनिया है। पैदल को पीछे छोड़ आगे दौड़ जानेवाली वाहन की दुनिया।

यह पैसे के बाजार और सत्ता के आजार की वह दुनिया है, जिसमें अमरीका, यूरोप, स्वर्ग सब-कुछ है। उन सारे सुख-सुरक्षा साधनों से सम्पन्न है, जिनकी खोज और निर्माण में पहली दुनिया मर-खप उठती है।

पहली दुनिया का मैं स्कूल का अध्यापक हूँ, दूसरी दुनिया का वह स्कूल की इमारत है। वास्वत में हम दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि वह मेरी किताब पढ़ा नहीं सकता और मैं उसकी इमारत बनवा नहीं सकता। पर नहीं, मेरे बिना वह शून्य नहीं, मैं उसके बिना शून्य हूँ। मेरी अन्दरूनी कीमत लाख हो, जब तक वह मुझे खरीद नहीं लेता, मैं शून्य हूँ। इसके विपरीत जब तक उसका बाहरी मूल्य लाख है, लाख वह शून्य और शून्य हो, मैं लाख नहीं हूँ।

पहली और दूसरी के अलावा एक और दुनिया है। इसे मैं तीसरी दुनिया नहीं कहूँगा। किसानों-श्रमिकों-दलितों की दुनिया है यह, जो होकर भी नहीं है, तो इसे कैसे कोई श्रेणी दी जाए।

मैं कोई नई बात नहीं कर रहा हूँ। हाँ, नई नहीं। वही कर रहा हूँ, जो युगों से हो रही है।

मैं मूर्ख हूँ कि वही बात कर रहा हूँ, जो युगों से की जा रही है!

* प्रख्यात ललित निबंधकार; संपर्क : मायादेवी नगर, जलगाँव 425002; मो. 0940315931

हाँ, मैं मूर्ख, युग नहीं, जिसे देख मैं कह रहा हूँ, एक ऐसी भी दुनिया है, जो होकर भी नहीं है। उस युग को देखकर जो ज्ञान-विज्ञान की डींग हाँकता है, लोकतन्त्र का ढोल पीटता है, न्याय-विवेक के गीत गाता है। वह युग कैसे मूर्ख हो सकता है जो अणु से परमाणु बन गया है।

युग बदला, दुनिया भी बदली और तेजी के साथ बदलती जा रही है। पर कौन सी दुनिया? दूसरी दुनिया। लकजरी की दुनिया। क्लब की दुनिया। हार्ट की दुनिया नहीं। इक्का-राजा की दुनिया। दुप्पी-तिप्पी-गुलाम की दुनिया नहीं। क्रिकेट की दुनिया गुल्ली-डंडा की दुनिया नहीं।

दूसरी दुनिया में इण्टरनेट आ गया, लाखों मील की दूरी का दृश्य देखते-देखते सामने उपस्थित, जबकि मेरी दुनिया का दृश्य नहीं सन्देश भी पन्द्रह मील की दूरी का पन्द्रह दिनों बाद मिल पाता है।

मुझे पानी उपलब्ध नहीं पीने के लिए, दूसरी दुनिया में कोकाकोला और पेप्सी की नदियाँ बह रही हैं।

पानी देसी है और मैं मुहताज हूँ, कोकाकोला-पेप्सी विदेशी हैं और दूसरी दुनिया सरताज है।

मेरी दुनिया का चूल्हा मिट्टी के तेल के लिए कलपता है और दूसरी दुनिया का कैम्पफायर विमान का पेट्रोल फूँकता नजर आता है। मेरी सूरज कविता न्यूज प्रिण्ट में रोती है तो दूसरी दुनिया का जुगनू निमण्त्रण ग्लेज्ड पर फुदकता है। मेरी स्टडी मिट्टी है दूसरी दुनिया का टॉयलेट संगमरमर है।

मैं फिर कहता हूँ कि मैं कोई नई बात नहीं कर रहा हूँ। बिलकुल घिसी-पिटी कर रहा हूँ। ऐसी घिसी-पिटी की सुनकर कोई संवेदना नहीं होती है। डाका डाला, बलात्कार किया, खून किया ... इक्का-दुक्का नहीं यह सब बड़े पैमाने पर हुआ, बड़ी बीभत्सता से हुआ, पर सुनकर या पढ़कर हमें कोई संवेदना नहीं।

हम भावुकता के युग में तो नहीं रह रहे हैं, कि हमें संवेदना हो, हम ज्ञान-विज्ञान के युग में जी रहे हैं। इण्टरनेट में जिसने देखते-देखते हमें इन दुर्घटनास्थलों पर पहुँचा दिया है।

कभी ऐसी वारदात केवल सुनते तो हम ऐसे कच्चे थे कि सुनते ही हमारे रोंगटे खड़े हो उठते थे। कितने पिछड़े हुए थे हम। अब ऐसी वारदात प्रत्यक्ष देखकर भी हम ऐसे पके हुए हैं कि हमारी चमड़ी पर कोई असर ही नहीं होता। हाँ, ऐसे ही प्रगत है हम।

संवेदना का पारा जितना नीचे, उतने प्रगत हम।

क्रिकेट मैच चल रहा है। प्रगत दुनिया का खेल, दूसरी दुनिया का खेल।

दूसरी दुनिया मैच अपने एअरकण्डिशनड हॉल में टीवी पर देख रही है।

इस एअरकण्डिशनड दुनिया में बाहर की खुली रोशनी और हवा नहीं, वह जो प्रकृति की है। ये हैं मशीनी। प्रकृति से रिश्ता जितना दूर-दूर, उतने हम प्रगत। किसान और मजदूर प्रकृति से कितने जुड़े हुए हैं, सो वे कितने पिछड़े हुए।

ओफ! मुझे फिर कहना पड़ रहा है, मैं कोई नई बात नहीं कर रहा हूँ। हाँ, एअरकण्डिशनड में टीवी देखने की भी। क्या अब नई बात यह करूँ कि लोकतन्त्र आ गया है? पर अब यह बात भी तो पचास साल पुरानी हो गई है। क्या यह बात करूँ कि नया प्रधानमंत्री आ गया है? नया कलेक्टर और पुलिस सुपरिंटेंडेंट आ गए हैं। कितने ही प्रधानमंत्री आए-गए, कलेक्टर-सुपरिंटेंडेंट आए-गए। मुझे और श्रमिक को तो नित्य यही लगा है कि लोकतन्त्र मुझसे और सामान्य आदमी से दूर-दूर जा रहा है, वह दूसरी दुनिया में सिमटता जा रहा है। मेरी दुनिया को छत मिली हो या न मिली हो, दूसरी दुनिया को एअरकण्डिशनर जरूर मिला है।

हाँ तो, एअरकण्डिशनड हॉल में टीवी पर क्रिकेट मैच देखा जा रहा है।

बैटिंग, बोलिंग, फिल्डिंग, एलबीडब्ल्यू, बाउंस, कैच, रन, लेगस्पिनर, सिक्सर, वगैरह-वगैरह में दुनिया सिमट गई है। दूसरी दुनिया। नहीं नहीं। मेरी दुनिया भी।

और क्या बताऊँ, अचानक बिजली चली जाती है और बिजली क्या जाती है लोग बौखला उठते हैं।... अरे अरे, यह क्या। बिजलीघर को फोन करो। क्या बात है, बिजली कैसे चली गई। हरामखोरों, सोते रहते हो क्या? हमारे खेल का क्या होगा?

एअरकण्डिशनड बन्द पड़ गया। दम घुटने लगा। इस दूसरी दुनिया का दम बाजार-कण्डिशनड बिगड़ जाने से नहीं घुटता, एअरकण्डिशनड बन्द हो जाने या बिगड़ जाने पर घुटता है।

आखिर बिजली आती है, एअरकण्डिशनड के दम में दम आता है। ओफ़, भारत ने इस बीच बहुत कुछ खो दिया है। अब भारत जरूर हार जाएगा। बिजली क्या चली गई, सब कुछ चला गया।

तभी कोई बेहूदा आदमी फोन पर बताता है, नगर में नक्सलवादियों ने एक परिवार के दस लोगों को गोलियों से भून दिया। सुनकर एअरकण्डिशनड कहता है, जानते हो भारत हार रहा है। नाव पार लगती नहीं दिखती, तेन्दुलकर जो आउट हो गया है।

नक्सलवादियों का आतंक बढ़ता जा रहा है।

क्या लिए बैठे हो, अरे सौरभ गांगुली ने छक्का लगाया है छक्का! ब्रेवो सौरभ गांगुली।

तीन माह के अन्दर यह दूसरी वारदात है।

होगी। तीसरी-चौथी भी हो सकती है। भारत को अपनी नाक ऊँची रखनी चाहिए।

टेलिफोन दूसरी तरफ से सवाल करता है, क्या ऐसी वारदातों को चुपचाप झेलकर?

मूर्ख हो, मैं क्रिकेट की बात कर रहा हूँ।

और भारत जीत जाता है। भारत क्रिकेट में जीत गया, इससे भारत ने आसमान छूती महँगाई पर, बढ़ते हुए भ्रष्टाचार पर, आतंकवादियों की हरकतों पर ही जैसे जीत हासिल कर ली।

ऐसा ही एक क्रिकेट खेल और है। लोकतन्त्र है इस खेल का नाम। इसके मैदान को स्टेडियम नहीं पार्लियामेंट और लेजिस्लेचर कहते हैं।

एअरकंडिशनिंग वाले लोग ही इस खेल में विशेष आनंद लेते हैं। खिलाड़ियों के रन पूरे देश के रन हैं, पर देश के लोगों तक ये पहुँच ही नहीं पाते। इन्हीं एअरकंडिशनड लोगों के कारण। ये ही बीच में बहुत-कुछ हड़प लेते हैं। दूसरी दुनिया के इन लोगों के लिए पार्लियामेंट और लेजिस्लेचर जैसे रेस का मैदान है। घोड़ों की ही तरह ये मन्त्रियों पर रकमें लगाते हैं।

कहा जा सकता है कि मैं यह भी कोई नई बात नहीं कर रहा हूँ।

अब नई बात करूँ तो कैसे करूँ? हम रोज जो अखबार पढ़ते हैं, वह भी क्या नया होता है, एक तारीख को छोड़कर? सोचें, विचार करें! उसमें नई छूटों-सुविधाओं की बात होती है, ...हाँ, होती है नई सरकार की भी होती है, पर सब दूसरी दुनिया हड़प ले जाती है। पहली दुनिया को तो आज पचास वर्षों में हर छूट या सरकार-क्या नई क्या पुरानी एक-सी रही हैं।

अतः पुरानी गलत बात के अस्तित्व में रहते नई बात की बात क्यों? कम-से-कम मेरी दुनिया के...पहली दुनिया के लोग तो इस बारे में गम्भीरता से विचार करें।गम्भीरता से विचार करें कि जो भी आज हमारे देश में गलत है, उसकी जड़ में दूसरी दुनिया है।

दूसरी दुनिया विकास के नाम क्या फालतू चीजों का निर्माण नहीं कर रही है-टूथपेस्टों का, शैम्पू-साबुनों का, चॉकलेट-बिस्कुटों का, क्रीम-पावडरों का, खाद्यों-पेयों का, कैसेटों-टैपों का?

टूथपेस्टों से हमारे दाँत मजबूत न बनते हों, पर दूसरी दुनिया के दाँत हमारी जेबें कुतरने के लिए जरूर पैसे बनते हैं।

कितने प्रकार के साबुन-शैम्पू तैयार होते हैं बाप रे बाप! क्या स्वच्छता ही सब कुछ नहीं है, उसमें 'चमकार' होनी ही चाहिए?

दाँतों का सत्यानाश करने वाले चॉकलेट-बिस्कुट हमें अपने ही भाड़ से दूर कर भाड़ में ही झोंक रहे हैं, इसका विचार हमने कभी किया? और क्रीम-पावडरी त्वचा हमें अपनी ही मिट्टी से दूर नहीं कर रही है? पेप्सी-कोकाकोला पीते हुए कभी हमने सोचा

है कि इनके निर्माता हमारा रक्त पी रहे हैं? कैसेट-टैप हमें पैरों की थिरकन के सिवा ऐसा कुछ देते हैं, जिसमें मस्तिष्क का भी स्थान हो।

ये सारी-की-सारी चीजें कितनी गैरजरूरी! पर इन गैरजरूरी चीजों ने दूसरी दुनिया का क्या-से-क्या बना दिया...उस दूसरी दुनिया को जो हमारे देश से कहीं अधिक विदेशों में फैली हुई है।

एक बारीक बात की ओर हमारा ध्यान नहीं गया है। गैरजरूरी चीजें हम पर लादनेवाली इस दूसरी दुनिया के लिए हम क्या हैं? अपनी चीजें हमारे मल्ले मढ़ देने के बाद सर्वथा गैरजरूरी।

इन गैरजरूरी चीजों से दूसरी दुनिया विकास के चरम पर है। इन चीजों ने उसे पंचतारा होटल दिए, उसमें उँची शराबें और नंगे नाच दिए, रमणीय हॉलीडे रिसॉर्ट दिए, कुबेरी अस्पताल दिए और-तो-और इनके ही इशारों पर नाचनेवाली सरकारें दीं।

यह सारा ऐसा विकास जिसमें हमारी पहली दुनिया को प्रवेश नहीं। हमको ही लूटकर बने हुए विकास में।

हाँ, हमारे लिए थिएटर खुले हैं, जहाँ नंगी फिल्में थिरकती हैं; स्टेडियम जहाँ के खेलों पर झूमने की हमें पूरी छूट है; और ऐसे मंच भी, जहाँ हम इस दूसरी दुनिया के खिलाफ इसी के द्वारा प्रायोजित कार्यक्रमों में मुक्त होकर चिल्ला सकते हैं।

क्या हो गया है हमें? पहली दुनिया के लोगों को? उन लोगों को जो समाज के क्रीम हैं लोकमान्य तिलक, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, भीमराव आम्बेडकर, चिन्तामणि देशमुख, विजयलक्ष्मी पण्डित हैं?

कैसी विडम्बना कि सोचनेवालों की सोच ही कुण्ठित हो गई है! अपनी सोच और बुद्धि को हमने बाजार में ले जाकर बैठा दिया है। बाजारू सोच और बुद्धि में ही हम अपने जीवन की परम उपलब्धि मान रहे हैं। हम नहीं देख पा रहे हैं कि हमारा बाजारूपन बूमरंग बना हमारी ही सोच-बुद्धि को, संस्कार-संस्कृति को क्षत-विक्षत कर रहा है।

हम बाजारू बन गए हैं दूसरी दुनिया के हाथों, दूसरी दुनिया के सपनों में डूबे। हम दूसरी दुनिया के पोस्टर बना रहे हैं, विज्ञापन रच रहे हैं, समाचार गढ़ रहे हैं।

मैं यहाँ नौकरशाहों की बात नहीं करता, डॉक्टरों-वकीलों की बात नहीं करता। नौकरशाह तो सीधे-सीधे बिके हुए लोग हैं और डॉक्टर-वकील बाजारू सोच-बुद्धिवादी। मैं उन लोगों की बात करना चाहता हूँ, जिन्होंने 'आखर' में मन्त्र की शक्ति पाई है, तन्त्र या यन्त्र की ध्वनि नहीं।

दुःख होता है देखकर कि आखर के मन्त्र की शक्ति जब कुर्सी में विराजमान हो जाती है तो वह अपने ही आखर का शोषण करने लगती है। बाबू की छोटी कुर्सी में से भी।

प्रिंसिपल दूसरी दुनिया का हस्तक बनकर अपने ही आखरों पर अन्याय करने लगता है।

सम्पादक दूसरी दुनिया के हाथों ढोल बन जाता है। लेखक पद-उपाधि-पुरस्कार के लिए दूसरी दुनिया की देहरी पर मस्तक टेकता है।

आज हम दिग्भ्रमित हैं। वे ही जिनके पास दिशा है, रोशनी है। हम दिग्भ्रमित न बनें, यदि दूसरी दुनिया के आकर्षण से दूर रहें। इसके लिए बहिष्कार करें उन अनावश्यक चीजों का, जो दूसरी दुनिया हम पर थोप रही है। मुझे तो तलाश है ऐसे आखरों की जो अभिमान से कहें, मेरे यहाँ टीवी नहीं है, फ्रीज नहीं, स्कूटर नहीं है, सोफासेट नहीं है।

सच कहूँ तो आज हमें अपने सही विकास के लिए दस्तक देती इक्कीसवीं शताब्दी में नहीं, गुजर गई सोलहवीं शताब्दी में जाना होगा। उस शताब्दी में जहाँ भौतिकता के बदले आत्मसम्मान की गूँज थी। आज आखर जिस प्रतिष्ठा की बात करता है, उसमें आत्मसम्मान की गन्ध में ढूँढ़ता रह जाता हूँ। उसका ऊँचा बँगला मुझे उसके आत्मसम्मान की कब्र लगता है।

हम बहिष्कार कर सकते हैं उनका, जो दहेज के मांसभक्षी गिद्ध हैं, उनका जो भ्रष्टाचार के धिनौने सूअर हैं, उनका जो दूसरी दुनिया के वफादार कुत्ते हैं।

अनावश्यक चीजों का बहिष्कार भी कोई छोटी-मोटी चीज नहीं होगी, यह दूसरी दुनिया की कमर तोड़कर रख देगी।

बहिष्कार हम उन ऊँचे गायकों, एक्टरों, खिलाड़ियों का भी करें, जो राष्ट्र के उत्थान में मूलतः हाशिए के लोग हैं, किन्तु जिन्हें हम ऐसा सिर पर बिठाए रहते हैं कि जैसे ये ही देश के रत्न हैं।

ये लोग देश के ऐसे कौड़ी-मोल रतन हैं, जो गरीबोन्मुखी कभी नहीं रहे। ये ऊँची महफिलों, ऊँचे भोजों, फैशन परेडों, सौन्दर्य प्रतियोगिताओं, निरर्थक महोत्सवों में ही दिख पड़ते हैं। ये ऐसे विज्ञापनों से लाखों की रकम पाते हैं, जो देश को लूटकर करोड़ों की सम्पत्ति को विदेशों में ले जाते हैं।

हम सरकार की उन योजनाओं का बहिष्कार करें, जो अमीरी रेखा के ऊपर के लोगों के लिए होती हैं। फास्ट ट्रेनें, ए.सी. ट्रेने, लक्जरी बसें, इंडिका कारें क्या इस गरीब देश के थिगले में रेशमी झालर जैसी नहीं लगती? हमारी फास्ट ट्रेनें कहाँ जा रही हैं? पैसेंजर ट्रेनों को पीछे छोड़कर उनमें बैठे गरीबों के उद्धार के लिए? फास्ट और ए. सी. ट्रेनें हमारी प्रगति की ऐसी प्रतीक हैं, जो गरीब स्टेशनों पर रुकती ही नहीं। इन खरगोश और शाह गाड़ियों का ऊँचा ग्राफ सामान्य जनता के कछुआ और आह गाड़ियों का इतिहास रोता है।

बहिष्कार, असहयोग, उपेक्षा, निषेध उन सबका, जिनके केन्द्र में गरीब नहीं हैं, उन सबका जो दूसरी दुनिया के हाथों बिक गए हैं। हमें दूसरी दुनिया से जूझने के

लिए इसी नीति पर चलकर दूसरी दुनिया बनानी होगी। कम-से-कम हम आखरों को। आखरों को अक्खड़ बनना होगा, कबीर-निराला की भाँति अक्खड़। अक्खड़ बन औरों में अक्खड़पन जगाना होगा, बिना दल के समुदाय के सम्प्रदाय या पन्थ के। कबीर ने कहाँ पन्थ बनाया था। दल-समुदाय-पन्थ बना नहीं कि वर्चस्व की राजनीति पनपने लगती है। आज यही हो रहा है और इसका लाभ दूसरी दुनिया उठा रही है।

हम आखर हैं शब्द से बने आखर। शब्द को हम ब्रह्म मानें-न-मानें, पर उसे माया तो न बनने दें। शब्द में जगत और जीव पनपने दें।...

पर मैं कौन होता हूँ जो बहिष्कार-निषेध की बात कर रहा हूँ; शब्द में जगत और जीव की बात कर रहा हूँ! क्या कबीर, क्या तुलसी या दादू? अब क्या बताऊँ मैं कौन हूँ। वास्तव में मैं तो शून्य भी नहीं हूँ, हमारे यहाँ शून्य में भी बड़ी शक्ति होती है, शून्य में आकाश है, ईश्वर है।

मैं तो बस एक व्रत हूँ, जिसे इसकी दुनिया के लोग भूखे की मजबूरी कहते हैं और तोड़ने के लिए पद-पुरस्कार-पदवी के टुकड़े फेंकते हैं और मेरी दुनिया के लोग भक्ति की मजदूरी। मुझे विश्वास है आप दूसरी दुनिया के नहीं हैं।

मेरा व्रत शब्द का व्रत है, जिसमें निष्ठा, सहिष्णुता और निग्रह है। निष्ठा मेरी जमीन के प्रति, सहिष्णुता मेरे बान्धवों की आस्थाओं के प्रति और निग्रह अपनी तृष्णाओं के प्रति।

अब आप कहेंगे मैं नई नहीं विचित्र बात कह रहा हूँ।

सर्जनात्मक साहित्य के आयाम और समय के प्रश्न

नन्दलाल मेहता वागीश*

साहित्य मूलतः सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का उपादान है और इस नाते वह कालातिक्रमी है। यहाँ तक की कालबद्ध अर्थात् सामयिक साहित्य में भी मूल्य-चेतना की दृष्टि से कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ अवश्य लक्षित होती हैं, जो अपने समय से परे की होती हैं। अभिप्राय यह कि सर्जनात्मक साहित्य स्वभाव से काल के अतिक्रमण करने की शक्ति से युक्त होता है। तत्त्वतः साहित्य धारा भी गंगा की धारा के समान त्रिपथगा होती है। जैसे गंगा की धारा स्वर्ग, पृथ्वी और पातालगामिनी होती है, उसी प्रकार साहित्य भी अतीत, वर्तमान और भविष्य की धारा पर एकतानता में अपनी गति बनाए रखता है।

साहित्य के अन्तस्तात्त्विक स्वरूप को समझने के लिए समीक्षा-क्षेत्र में कुछ बोध-पद्धतियों का आश्रय लिया जाता है। इन्हें साहित्य की व्युत्पत्तिमूलक पद्धतियाँ कहा जा सकता है। साहित्य शब्द 'सह' धातु से सम्बन्ध रखता है। 'सह' धातु के व्यापक अर्थों में एक अर्थ साथ-साथ होना भी है। 'सह' से सहित शब्द बनता है, इसलिए अध्यापकीय बोध-दृष्टि से यह प्रायः कहा जाता है कि 'साहित्यस्य भावः इति साहित्यम्।' इस प्रकार साहित्य, सहित शब्द की भाववाचक संज्ञा है। अभिप्राय यह कि जिस रचना में शब्द और अर्थ का, भाव और विचार का, तथ्य और कल्पना का, व्यष्टि और समष्टि का, निकट और दूर का तथा अतीत, वर्तमान और भविष्य का सहचरण घटित होता है, ऐसी लिपिबद्ध रचना को ही साहित्य की संज्ञा दी जाती है। साहित्य के स्वरूप का यह बोध, शब्द की निर्वचन-दृष्टि के अन्तर्गत आता है।

साहित्य शब्द समस्तपद के रूप में भी विवेचनीय है। हित शब्द के पूर्व 'स' उपसर्ग लगाने से सहित शब्द बनता है, इसलिए साहित्य शब्द का एक अर्थ यह भी

है कि जो हित से युक्त है, वह सहित है और इसी की भाववाचक संज्ञा है साहित्य। इसलिए पठन-पाठन की दृष्टि से यह कहा जाता है कि 'हितने सह वर्तते इति सहितम्, तस्य भावः इति साहित्यम्।' जिसके पठन-पाठन से पाठक को हित भाव की उपलब्धि होती है, वह साहित्य है। यहाँ हित-भाव स्थूल रूप की अपेक्षा लक्षणा में व्यवहृत हुआ है। इस प्रकार की दृष्टि साहित्य की प्रयोजनमूलकता से सम्बद्ध है, हित-भाव एक प्रकार से रचनाकार का मनस्तोष भी है। इस मानसिक तुष्टि के अतिरिक्त साहित्य के और भी अनेक प्रयोजन हैं, जिन पर आचार्यों ने विचार किया है। साहित्य प्रयोजन के क्षेत्र में मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' का एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है। जिसमें कहा गया है कि साहित्य (काव्य) से यश, अर्थ, व्यवहार-शिक्षण, अमंगल की निवृत्ति, शीघ्र मनस्तोष (आनन्द) की प्राप्ति और कान्तासम्मत हितकारी वचनों का श्रुतिफल प्राप्त होता है। व्युत्पन्न अर्थ की दृष्टि से साहित्य शब्द से सम्बद्ध एक और धातु है, जिससे साहित्य का वास्तविक अर्थ उद्दीप्त होता है। साहित्य शब्द की मूल रचना में 'धा' धातु है, जिसका अर्थ है धारण करना। संस्कृत भाषा की व्याकरणिक प्रक्रिया के अनुसार 'धा' धातु से हित शब्द बनता है। इसी में अव्यवमूलक 'स' लगाकर पहले सहित और तदुपरान्त साहित्य शब्द निष्पन्न होता है। यह 'धा' धातु जुहोत्यादि गण की उभयपदी धातु है। साहित्य की निष्पत्ति के अर्थ में 'धा' धातु के सन्दर्भ से यह समझा जा सकता है कि धार्यता साहित्य का स्वरूप गुण है।

साहित्य में यह धार्यता दो रीतियों से घटित होती है। पहली देशकालबद्ध धार्यता और दूसरी सांवेदनिक अर्थात् मूल्यबद्ध धार्यता। साहित्य के बोध-सन्दर्भ में यह कहा जा चुका है कि देशकालबद्ध साहित्य में भी मूल्य-चेतना के सूक्ष्म कण किसी न किसी रूप में सन्निविष्ट होते हैं और उसी रूप में वह अपने समय से परे प्रवहमान रहता है। साहित्य की धार्यता का दूसरा रूप है, मूल्यबद्ध धार्यता का। साहित्य का यह रूप अपने स्वरूप में कालातिक्रमी होता है। यही साहित्य की सांस्कृतिक अमरता है, क्योंकि साहित्य की ऐसी रचना अपनी दिक्बद्धता और समयबद्धता से मुक्त होती है। देशकाल में उत्तरपद 'काल' मूलतः तत्समय का बोधक है। ऐसे समय में सांवेदनिक धार्यतापरक साहित्य सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो जाता है। इसकी प्रेरणाएँ शाश्वत रूप में सृष्टि को प्रभावित करती हैं। इस साहित्य की उदात्तता सृष्टिमय होती है। ऐसा नहीं है कि इस प्रकार का साहित्य अपने दिक् और काल के प्रश्नों से नितान्त अछूता रहता है। वैशिष्ट्य बस इतना है कि ऐसा साहित्य अपने समय के प्रश्नों को एक दार्शनिक नैरन्तर्य प्रदान करता है। तब वे प्रश्न उसकी पीड़ाएँ, उसकी व्याकुलता व्यष्टिबद्ध न होकर समष्टिबद्ध और उत्तरोत्तर सृष्टिबद्ध भी हो जाती हैं। ऐसे कालातिक्रमी साहित्य को ही कालजयी साहित्य कहा जाता है। ऐसे ही साहित्य के गौरववाचक शब्द, कहीं-कहीं 'विराट्' तो कहीं उदात्त चेतना के रूप में प्रयुक्त होते हैं। अवधेय है कि

डॉ. नन्दलाल मेहता वागीश, पूर्व सीनियर फेलो, संस्कृति मंत्रालय, लेखक, समीक्षक एवं भाषा-चिन्तक हैं। पता: शब्दालोक-1218 सेक्टर-4, अर्बन एस्टेट, गुडगाँव (हरियाणा), दूरभाष : 4077218; सचलवाक : 09910431699

कालजयी साहित्य ही विराट् और उदात्त चेतना का वाहक होता है। इस प्रकार साहित्य में निहित धार्यता सृष्टि को धारण करती है और फिर स्वयं को सृष्टि हेतु वितरित कर देती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मेघ सागर के खारे जल को पहले धारण करता है और फिर अमृतसन्निभ वर्षा-जल रूप में सृष्टि को वितरित कर देता है। इस प्रकार साहित्यसिद्ध धार्यता स्वयं में उभयपदी है।

प्रसंगतः यह जान लेना आवश्यक है कि लेखन और सृजन में मौलिक अन्तर क्या और कैसा है। यूँ लेखन भी एक प्रकार की लिपिबद्धता तो है ही, किन्तु सर्जनात्मक साहित्य और लेखन में आधारभूत अन्तर है। साहित्य में निहित रचनात्मक लालित्य, लेखन से परे की कृति है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से साहित्य परोक्ष विधा है। साहित्य में सादृश्य-विधान सूक्ष्म रूप में व्याप्त होता है, इसलिए साहित्य में शब्द अपने अर्थ के साथ व्यय नहीं होता है। साहित्य परोक्ष विधा इसलिए भी है कि उसमें कथन और उपदेशण नहीं, बल्कि संकेतन होता है। साहित्य में शब्द प्रधान है और शास्त्र में अर्थ प्रधान। साहित्य की शब्द प्रधानता का उत्कर्ष उसके काव्य में देखने को मिलता है। उसकी प्रस्तुति बिम्बात्मक रूपों पर खड़ी होती है। साहित्य और विशेषकर काव्य में भाव-लालित्य और विचार-ओजस्विता, लयात्मक प्रस्तुति में नर्तन करती है। इससे साहित्य में मूल्यों का रसात्मक भावन पाठकों को अपने लय-लोक से सम्मोहित करता चलता है। साहित्य का यह दर्शन उसकी सर्जनात्मकता के स्वरूप को निर्मित करता है। स्पष्ट है कि सर्जनात्मकता साहित्य का अंगभूत और प्रथम प्राथमिक गुण है।

संवेदनीयता साहित्य-सर्जना का दूसरा प्रमुख लक्षण है। साहित्य में संवेदनीयता व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होनेवाला शब्द है। विषय को संवेदना के स्तर पर अनुभूत करना अर्थात् उसकी मार्मिकता तक पहुँचना, उस मार्मिकता के स्पन्दन को अनुभव करना है, अनुभव की उन तरंगों को समग्रता से भाव का विषय बनाना, उसका मनन करना अर्थात् मन का उसमें लीन होना, साथ ही विषय को बौद्धिक स्पर्श देकर अपने चिन्तन का अंग बना लेना और इन सभी मनःक्रियाओं की अनुभूयता को बोधपूर्वक व्यवस्थित अभिव्यक्ति देना ये सभी मनोव्यापार, संवेदनीयता के अंगभूत हैं। अनुभूति के ऐसे परिपाक से गुजरकर ही कोई भाव, विचार या विषय साहित्य की अभिव्यंजना-संज्ञा को धारण करता है। वस्तुतः साहित्य में विचार को भी भावसिद्ध होकर सर्जनात्मकता की भूमि पर अभिव्यक्त होना पड़ता है। कोरी वैचारिकता लेखन का विषय तो हो सकती है, किन्तु साहित्य-सर्जना का नहीं। विचार को भी भावस्पर्शित होकर साहित्य की धरा पर रागसिद्धता प्राप्त होती है। यह रागसिद्धता संवेदन का दूसरा रूप है।

साहित्य सर्जना के गुणों का एक तीसरा आयाम है कि जब तक आयत्त अनुभव आपकी अपनी अनुभूति के सत्य में परिणत नहीं होते, तब तक वे साहित्य-अभिव्यंजना का विषय नहीं बनते।

विवेचनीय यह है कि साहित्य के सन्दर्भ में समय के प्रश्नों का क्या स्वरूप है? समय के प्रश्न शाश्वत अर्थात् निरवधि भी हो सकते हैं और तात्कालिक अर्थात् सावधि रूप में भी हो सकते हैं। कुछ प्रश्नों की अभीप्साएँ निरवधिकालिक होती हैं, जैसे मानवीय गरिमा, स्वाधीनता की आकांक्षा, जातीय स्वाभिमान, नारी-सम्मान, राष्ट्रीय अस्मिता, न्याय समानता विचार, नैतिक मूल्यों सहित सभी मानवीय गुण-समूह और अन्याय का प्रतिकार ये सभी विषय समय के शाश्वत प्रश्नों के अन्तर्गत आते हैं। समय के तात्कालिक अर्थात् सावधिक प्रश्नों में राजनीतिक चिन्तन, निर्णय, बदलते सामाजिक मूल्य, आर्थिक परिवेश, शिक्षा का स्वरूप और त्रुटिपूर्ण निर्णयों से पनपी व्यवस्था के भ्रष्टाचार, हिंसाचार तथा समाजविखण्डन की अनेक विकृतियाँ समाहित हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि साहित्य में समय के प्रश्नों की अभिव्यक्ति का स्वरूप क्या और कैसा है? लक्षणीय बात यह कि समय के ये सभी प्रश्न समाज की सापेक्षता में ही उठते हैं और साथ ही ये प्रश्न अपने समय से रू-ब-रू होने और उससे सामना करने के लिए उद्यत होते हैं। इसलिए प्रश्नों के सन्दर्भ में समाज महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इन प्रश्नों की उत्थान-भूमि और परिणाम-भूमि भी समाज ही है। समाज-सन्दर्भ के परे के प्रश्न तात्त्विक कालगणना, मात्र विवरण, निबन्धात्मक आलेख अथवा तटस्थ भाव से आँखों-देखे हाल सरीखे हो सकते हैं, किन्तु वे सर्जनात्मक साहित्य के कारक नहीं हो सकते। यह साहित्य की सर्जनात्मक शक्ति ही है, जो समय के प्रश्नों को अपने समय से पार ले जाती है। भले ही ऐसे प्रश्न निरवधिकालिक न हों। साहित्य का विषय बने सावधिक प्रश्न भी जब तक भविष्योन्मुखी अनुगुँजों से ध्वनित नहीं होते, तब तक वे समुदायबद्ध और दलबद्ध अथवा अर्जित वैचारिकता की अनुकरणबद्धता के दोष से मुक्त नहीं माने जा सकते। ऐसे प्रश्न साहित्य के उदार प्रांगण में कोई स्थान नहीं पाते। भारत के मार्क्सवादी लेखकों ने ऐसे जितने भी प्रश्न उठाए हैं, वे लेखन के क्षेत्र में तो आते हैं, किन्तु साहित्य की सर्जनात्मक धरा पर उर्वरित नहीं हो सकते। बौद्धिकता के नाम पर ऐसे प्रश्न अपने समय में उत्पन्न होकर, समाधान-स्थिति के आते ही मृतक अवशेषों की तरह पड़े रह जाते हैं। नई कविता के युग में कभी इन मार्क्सवादी समीक्षकों ने कविता में 'बुद्धि रस' की स्थापना करने की अवधारणा को एक सर्जनात्मक रूप में महिमामण्डित करने की बड़ी कोशिश की थी। तब वे अपनी इन अकलात्मक कोशिशों को 'अक्ल-आत्मक' कहकर परम्परागत कविता का उपहास करते थे। आज उनके ये सभी तर्क, समय के कूड़ेदान में गलित कुष्ठ होकर कराह रहे हैं।

विषय के सैद्धान्तिक विवेचन के उपरान्त इस विषय का विनियोग-प्रमाणन भी आवश्यक है। समय के प्रश्न हर युग के अपने होते हैं। इसलिए अनेकानेक कवियों की रचनाओं के उद्धरण दिए जा सकते हैं, जो अपने समय के प्रश्नों की अनुगुँजों से

भरित होंगे, किन्तु विषय के विवेचन-औचित्य को ध्यान में रखते हुए प्रतीक प्रतिनिधित्व के रूप में कुछ कवियों के उद्धरण दिए जा रहे हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ये प्रश्न अपनी निहित पीड़ाओं के साथ संसरण करते हैं। कारण, ये सभी प्रश्न प्रत्यक्ष-परोक्ष रीति से लोक-हित से जुड़े होते हैं। कोई कितने ही आत्म-तत्त्व की बात करे, शरीर से निर्गत हो उस आत्मतत्त्व को कहा नहीं जा सकता। जिस प्रकार आत्मचैतन्य की सभी यात्राएँ शरीराधिष्ठान के बिना सम्पन्न हो नहीं सकतीं, ठीक उसी प्रकार अप्रतिम महाकवि भी अपने युग-शरीर से विच्छिन्न होकर अथवा ऐसा दर्शित करते हुए मात्र कल्पनाश्रयी भाव-विचार-धरा पर किसी कालातीत रचना की सृष्टि नहीं कर सकता। तुलसीदास तो युगचेता कवि थे। उन्होंने अपने युग की अभिशप्त पीड़ाओं को प्रायः प्रत्यक्ष-परोक्ष रीति से तो कहीं-कहीं प्रत्यक्ष रीति से भी वाणी दी है। श्रीरामचरितमानस की पात्र-सर्जना भले ही ऊपर से कथाधृत योजना के अंग रूप में प्रतीत होती है, पर मात्र ऐसा नहीं है। हाँ, 'कवितावली' और 'दोहावली' में कवि तुलसीदास जिस प्रकार निस्संकोच रीति से अपने समय के प्रश्नों को धार देते उद्यतशील दृष्टिगत होते हैं, श्री रामचरितमानस में 'उत्तरकाण्ड' को छोड़कर अन्यत्र ऐसा नहीं है। तुलसीदास के समय में किसान, व्यापारी, नौकरीपेशा आदमी और सामान्य जन की जो स्थिति थी, न्यूनाधिक रूप से कुछ परिवर्तनों के साथ आज भी बनी हुई है। अपने युग की पीड़ा को कवि तुलसीदास ने 'कवितावली' में इस प्रकार से उठाया है

*खेती न किसान को, भिखारी को न भीख,
बलि बनिक को बनज, न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग, सीधमान सोच-बस,
कहै एक एकन सो, कहाँ जाइ का करी ॥90॥*

कवि तुलसी के युग में पराधीनतापाश में आबद्ध भारत राष्ट्रजन धर्मांतरण के कुटिल कौशल से जूझ रहा था। यँ अपने समाज में अन्धविश्वास कम न थे, ऊपर से आक्रान्ता आधिपत्य राष्ट्र-मन को स्वधर्म से विपथगामी बनाने की कूट योजनाओं को प्रोत्साहित कर रहा था। उन दिनों बहराइच में बनी गाजी मियाँ की दरगाह के बारे में प्रयासपूर्वक यह विश्वास प्रचारित किया जा रहा था कि इस दरगाह पर आने वाले अन्धे-कोढ़ी तथा अन्य रोगग्रस्त रोगी भी ठीक हो जाते हैं, और यहाँ तक की बाँझ स्त्री को भी सन्तान लाभ होता है। गाजी मियाँ के नाम से यह मजार वस्तुतः एक बादशाही सैनिक 'सैयद-सालार-जंग-मसऊद' की थी। अपने समय के प्रचलित इस अन्धप्रवाद का खण्डन करते हुए 'दोहावली' में तुलसीदास जी ने लिखा है

*लही आँखिन कब आँधरे, बाँझ पूत कब लयाई।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाइ ॥दो. 96॥*

कवि तुलसीदास के युग में महायान शाखा की परम्परा से निकले 'अलखिया सम्प्रदाय' के जोगी शून्य के ध्यान करने का उपदेश दिया करते थे। अलख-अलख करने वाले ये साधु अलखिये कहलाते थे। अलख निरंजन कहे हुए वे सामान्य जन की श्रद्धा का लाभ उठाते और उन्हें भक्ति मार्ग से विरत करते फिरते थे। तुलसीदास जी ने सामाजिक जीवन-दर्शन से दूर ऐसे अलखिये साधुओं को फटकारते हुए कहा है

*हम लखि लखहि हमार लख, हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखहि, राम नाम जपु बीच ॥दो. 9॥*

आधुनिक युग के कवि महाप्राण निराला ने अपने समय के प्रश्नों को संवेदना और विचार के स्तर पर तो कहीं-कहीं व्यंग्य-विडम्बन पद्धति से स्वर प्रदान किया है। निराला वस्तुतः विराट् चेतना के कवि थे। उनकी एक उत्कृष्ट रचना का शीर्षक है 'तुलसीदास'। कथाधार के घटना-सन्दर्भ के साथ यह रचना एक लम्बी वैचारिक कविता है, जिसकी क्रोड में वैचारिक संघर्ष और भावात्मक उद्वेलन का विकट मिलन प्रवाहित हो रहा है। एक नवगठित छन्द में निराला ने तुलसीदास जी के जीवन की घटना के माध्यम से अपने समय के स्वाधीनता-संघर्ष को परोक्ष रूपेण प्रखर वाणी प्रदान की है। अंग्रेजों के उस युग के पराधीन भारत में भारतीय मूल्यमानों पर चारों ओर से कई रूपों में प्रहार हो रहे थे। निराला को लगा कि कवि तुलसीदास के युग में भी कभी ऐसी विकट स्थिति थी। बस अपनी जातीय अस्मिता पर हो रहे प्रहारों से आकृष्ट कवि निराला ने तुलसीदास के जीवन के विशिष्ट घटना-सन्दर्भ और उस युग की मर्मवेधी पीड़ाओं पर अपने युग का अध्याहार करते हुए तुलसीदास की मनःपीड़ा के माध्यम से कहा

*भारत के नभ का प्रभापूर्य, शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे, तमस्तूर्य दिङ्मंडल
उर के आसन पर शिरस्त्राण, शासन करते हैं मुसलमान
है उर्मिल जल, निश्छलत्प्राण पर शतदल।*

निराला की 'कुकुरमुत्ता' एक उत्कृष्ट व्यंग्य रचना है। 'कुकुरमुत्ता' कविता की सम्पूर्णता को जाने बिना बहुत दिनों तक मार्क्सवादी समीक्षक, एक अंश के आधार पर 'कुकुरमुत्ता' कविता को प्रगतिवादी खेमे के हथियार के रूप में प्रयुक्त करते रहे और बहुत-सी छात्र-पीढ़ियों को दिग्भ्रमित करते रहे। उस समय कुछ ऐसे समीक्षक टी.एस. इलियट के काव्य-सम्बन्धी चिन्तन को मानक मानकर भारतीय काव्य-शास्त्र का उपहास उड़ा रहे थे। अर्धसत्य प्रेरित ये और इन जैसी प्रवृत्तियाँ हिन्दी पाठकों को भ्रमित कर रही थीं। यदि मार्क्सवादी समीक्षकों ने 'कुकुरमुत्ता' की मार्मिकता को समझा होता तो हिन्दी पाठक इस भ्रम से बच जाता। प्रतीत होता है कवि निराला को

जैसे इन सब स्थितियों का अनुमान हो, इसलिए उन्होंने 'कुकुरमुत्ता' के कथ्य के माध्यम से ही मानों हिन्दी साहित्य के इन भ्रान्ति-कारक प्रश्नों का उत्तर दे दिया हो

कहीं का रोड़ा, कहीं का पत्थर
टी.एस. इलियट ने जैसे दे मारा।
जैसे प्रोगेसिव का कलम लेते ही
रोके नहीं रुकता जोश का पारा ॥

महाकवि निराला ने सामयिक प्रश्नों के साथ-साथ युग के शाश्वत प्रश्नों को भी अपनी लेखनी का विषय बनाया। नारी-अस्मिता का प्रश्न एक शाश्वत प्रश्न है। मुक्ति की दिशाएँ एवं भंगिमाएँ भले ही बदलती रही हों, किन्तु नारी-चेतना की सम्पूर्ण सामाजिक अभिव्यक्ति के अनवरुद्ध होने की भावना को हर युग के कवि ने वाणी दी है। निराला ने दृढ़ता से निश्चयात्मक भाषा में कहा है कि

तोड़ो-तोड़ो-तोड़ो कारा
पत्थर की, निकले फिर
गंगा-जलधारा।

वस्तुतः समय के प्रश्न और उनके समाधान की चिन्ता हर युग की नियति है। वर्तमान युग में राजनीतिक सरोकारों ने ऐसी हलचल मचा दी है कि सीधे-सीधे सामाजिक क्षेत्र के प्रश्न राजनीतिक सत्ता से आकर उलझ गए हैं। उधर हिन्दी गजलों में समय के इन प्रश्नों को प्रमुखता से उभारा गया है। हिन्दी गजल के एक सशक्त गजलकार राधेश्याम शुक्ल की रचना में कुछ ऐसे प्रश्नों को धारदार ढंग से उठाया गया है

- देश को मत देख आँख है, तो सरकारों को देख
सर नवा, कन्धे झुकाकर, चन्द परिवारों को देख।
- झोपड़ी मत कर गिला, तू भी बड़ी हो जाएगी।
अपनी बाजू में खड़ी, इन चन्द मीनारों को देख।

उक्त विवेचन से ध्वनित होता है कि भाव-स्पन्दन से लेकर वर्णरूपता की परिणति तक साहित्यिक सर्जनात्मकता एक ऐसी वर्तुलगत संरचनात्मक प्रक्रिया है, जो साहित्यकार के मनसू पर अपने स्वरूप का स्वयं निर्धारण करती है। इस प्रक्रिया की अन्तरंगता अपनी बहिरंगता से नितान्त विच्छिन्न नहीं होती। यहाँ तक कि एकान्त अन्तरंग भावोच्छ्वास भी, अभिव्यक्ति के स्तर पर पूर्णतया निरिन्द्रिय नहीं होता। हाँ, यह अन्तरंग जितना प्रतीक-प्रस्थित होगा, उतना ही रचना का आन्तर और बाह्य पक्ष, सर्जनात्मक सौन्दर्य से अभिषिक्त होगा।

इतिहास-दृष्टि और सृजनकर्म

कृष्ण चन्द्र गोस्वामी*

'इतिहास-दृष्टि' पर विचार करने के क्रम में अनायास ही मेरा ध्यान आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी जी के इस कथन की ओर गया कि अभिव्यक्ति केवल रचना-कौशल नहीं है; अपितु अनुभूतिपूर्ण रचना-कौशल है। और फिर; प्रसाद जी का एक कथन जो उन्होंने काव्य और कला को परिभाषित करते हुए कहा था; मेरे अन्तःकरण में कौधा; जहाँ वे कहते हैं - "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। यह एक श्रेयमयी प्रेय-रचनात्मक धारा है।" आगे इस संकल्पात्मक अनुभूति को स्पष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं कि "आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय-सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है; काव्य में संकल्पात्मक अनुभूति कहलाती है।" उनका मत है कि काव्य इसी संकल्पात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति है।

उल्लेखनीय है कि प्रसाद जी के उक्त वक्तव्य का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः कविता और अन्य कला-कर्मों के साथ है; किन्तु जैसे ही वे इन सन्दर्भों का अतिक्रमण कर काव्य शब्द का व्यवहार जीवन के व्यापक सन्दर्भों में करते हैं वैसे ही, इसका अर्थ-विस्तार हो जाता है। हम जानते हैं कि भारतीय-पदावली में काव्य केवल पद्य का आर्थी नहीं है, कदाचित् इसीलिए प्रसाद जी ने यह स्पष्टीकरण देना आवश्यक समझा; वे लिखते हैं "काव्य केवल छन्दों में ही नहीं बसता; द्रष्ट किंवा अनुभूत श्रेय-सत्य के सार की अभिव्यक्ति अपने किसी भी रूप में काव्य-पद वाच्य ही है।"

ध्यान देने की बात यह है कि प्रसाद जी ने पूर्वोद्धृत वक्तव्य 'काव्य और कला' पर विचार करते हुए दिए हैं; जबकि 'काव्य केवल छन्दों में ही नहीं बसता...', से प्रारम्भ हुआ वक्तव्य उनके सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक निबन्ध प्राचीन आर्यावर्त : प्रथम सम्राट् इन्द्र और दाशराज्ञ युद्ध से उद्धृत है; जहाँ वे 'कहीं से आए थे हम नहीं हमारी जन्मभूमि थी यहीं' की प्रामाणिकता ऐतिहासिक सन्दर्भ में सिद्ध करने में जुटे थे।

*हिन्दी विभाग, महारानी श्री जया महाविद्यालय, भरतपुर, श्री निकुंज, बी. 90 जवाहर नगर, भरतपुर

ध्यातव्य है कि यहाँ पर उन्होंने यह मानते हुए भी कि 'श्रेय अथवा सत्यज्ञान संकल्पत्मक अनुभूति के रूप में कवि में उपस्थित होता है'; 'मूल चारुत्व' की शर्त को धीरे से हटा लिया है। इससे स्पष्ट है कि प्रसाद जी की दृष्टि में संकल्पात्मक अनुभूति में जो श्रेय-सत्य अवस्थित रहता है; वह केवल पद्य अथवा अन्य कला-रूपों तक ही परिसीमित नहीं रहता, अपितु अभिव्यक्ति के तमाम अन्यान्य रूपों अर्थात् जागतिक जीवन के तमाम कार्य-व्यापारों से भी उसका उतना ही गहरा सम्बन्ध है। प्रसाद जी जानते हैं कि जागतिक जीवन के अनन्त कार्य-व्यापारों के मध्य इस 'श्रेय-सत्य' को पहिचानने की क्षमता के अभाव में किसी के लिए भी अपनी राह निकाल पाना कठिन ही नहीं; अपितु असम्भव भी है। ऐसी स्थिति में; स्वाभाविक ही है कि आत्मा द्वारा दृष्ट किंवा अनुभूत श्रेय-सत्य के सार की किसी भी रूप में अभिव्यक्ति को वे काव्य कहें और उसके द्रष्टा को कवि। वैदिक वाङ्मय में *कवयोः क्रान्त द्रष्टारः* का भी कदाचित् यही मन्तव्य है।

यह ठीक है कि इतिहास का गहरा सम्बन्ध अतीत के साथ है, किन्तु जब भी कोई इतिहास के पास जाता है तो उसका उद्देश्य वर्तमान की; अपने समय की किसी-न-किसी गुल्मी को सुलझाना ही होता है। अतः इस अर्थ में इतिहास का सम्बन्ध वर्तमान से जुड़ता है। ऐसे में; केवल अतीत की घटनाओं का कालक्रम से किया गया कोई भी संकलन वर्तमान के लिए तब तक कुछ विशेष सहायक नहीं हो सकता, जब तक समसामयिक चुनौतियों के सन्दर्भ में अतीत-भेदी दृष्टि द्वारा उनका विश्लेषण और मूल्यांकन न किया जाए। वस्तुतः जिस समाज के पास आत्मानुभूत श्रेय-सत्य से साक्षात्कार करने की जितनी व्यापक; जितनी समृद्ध सामर्थ्य होगी, वह अतीत की घटनाओं का भेदन उतनी ही अधिक गहराई के साथ कर समयोचित चुनौतियों का समाधान खोजने में कृतकार्य होगा। इस तरह; 'इतिहास-दृष्टि' पदबन्ध में विद्यमान 'दृष्टि' किसी भी समाज विशेष के लिए उपर्युक्त आत्म-दृष्ट किंवा अनुभूत श्रेय-सत्य का साक्षात्कार करने की उसकी क्षमता का ही दूसरा नाम है।

जहाँ तक इतिहास का प्रश्न है तो निरुक्तकार यास्क ने इस शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है *इतिह एवमासीत इति च उच्यते स इतिहासः। (निरुक्त - 2.3.1 पर दुर्गाचार्य की वृत्ति) ध्यान देने की बात यह है कि सामान्यतः पाश्चात्य विद्वान भी इतिहास से यही अर्थ ग्रहण करते हैं। किन्तु अन्यत्र यास्क ने वैदिक काल में दो सम्प्रदायों के अस्तित्व का संकेत किया है। वे लिखते हैं *तत्को वृत्रः मेघ इति नैरुक्ताः त्वाष्ट्रोऽसुरः इत्यैतिहासिकाः। (उद्धृत - प्राचीन आर्यावर्तः प्रथम सम्राट् इन्द्र और दाशराज्ञ युद्ध, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध-जयशंकर प्रसाद, पृ. 145) कालान्तर में, वेदों में इतिहास-पुराण और गाथाओं का उल्लेख एक ही कोटि में हुआ (अथर्ववेद, 15-6-12) तो छान्दोग्य उपनिषद् (4/1) में वेदों के साथ इतिहास और पुराणों को पंचमवेद की प्रतिष्ठा मिलती दृष्टिगोचर होती है। ध्यान देने की बात है कि**

यास्क देवापि और शन्तनु तथा विश्वामित्र के सुदास पैजवन का पुरोहित होने की घटना को जब निश्चित रूप से 'इतिहास' कहते हैं, तब वैदिक काल में ऐतिहासिकों का एक अलग सम्प्रदाय होने की पुष्टि स्वयमेव हो जाती है।

प्रसाद जी ने विभिन्न प्रमाणों का विवेचन कर उस प्रागैतिहासिक काल में भारत में आत्मवादी और ऐतिहासिक इन दो सम्प्रदायों का अस्तित्व सिद्ध किया है। उनके अनुसार एक का नेतृत्व आत्मवादी इन्द्र के पास था; तो दूसरे के नेता वरुणोपासक त्वष्टा थे जो - ईश्वरी महत्ता से पूर्ण धर्म के शासन को स्वीकार करनेवाले थे। (वही, पृ. 147) सारांश यह कि गाथा और पुराणों को इतिहास माननेवालों के समानान्तर घटनाओं को क्रमबद्ध रूप में इतिहास मानने वालों का भी एक सम्प्रदाय हमारे यहाँ विद्यमान था। कल्हण की 'राजतरंगिणी' इसी कोटि का ग्रन्थ है। गुजरात में सोमेश्वर की *कीर्तिकौमुदी*, बिहार में विद्यापति की *कीर्तिलता* और तमिलनाडु में जयगोंडार कृत *चोलवंशचरितम्* आदि इसी परम्परा में परिगणनीय इतिहास-ग्रन्थ हैं।

पाणिनी ने 'पुराण' का अर्थ 'पुराभवम् इति' अर्थात् 'प्राचीनकाल में होने वाला' भले ही किया हो किन्तु कालान्तर में, पुराणों में घटित-सत्य के साथ भाव-सत्य का समावेश इस सीमा तक हो गया कि उसमें से 'घटना-सत्य' का उद्घाटन कर पाना दुरूह हो गया। वस्तुतः पुराणकारों ने घटनाओं में विद्यमान तात्कालिकता का अतिक्रमण कर कालातीत सत्य को उद्घाटित करने पर जोर दिया जिसके कारण तिथि-संवत् महत्त्वहीन हो गए। घटनाओं से काल के आयाम के शिथिल हो जाने के बाद इतिहास-कथन की दो शैलियाँ पुराणकारों ने विकसित कीं एक का उदाहरण महाभारत के शान्तिपर्व में प्रयुक्त 'अथ ते संप्रवक्ष्यामः इतिहासं पुरातनम्' और दूसरी का 'एकदा देवयात्रायां गोपाला जात कौतुकाः' (भागवत, 10:34:1) के रूप में देखा जा सकता है।

'समय' इतिहास का अभिन्न अंग है; चाहे वह संवत्तों के रूप में उसमें शामिल हो; या पुरा, एकदा जैसे प्रच्छन्न रूपों में। हमारे यहाँ काल के दो प्रधान सादृश्य प्रयुक्त हुए हैं पहला 'नदी' से और दूसरा 'चक्र' से। इनमें से प्रथम; काल की व्यावहारिक गति का द्योतक है और द्वितीय; प्रकृत गति का। एक में काल का ऋजुरेखीय गमन स्वीकृत है; और दूसरे में 'चक्रान्तर अनन्तचक्र गति' में काल का परिभ्रमण मान्य है। कालचक्र की परिधि में गतिमान चक्रों की अनन्तता वस्तुतः घटनाओं की अनन्तता है और इन्हीं घटनाओं में से युगानुकूल अर्थों का सन्धारण करनेवाली घटनाओं के चयन और फिर इन चयनित घटनाओं में से युगानुकूल अर्थों के साक्षात्कार का साधन है इतिहास-दृष्टि। किन्तु दृष्टि-भेद से परिणाम-भेद होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसके मूल में है द्रष्टा की आत्मानुभूत श्रेय-सत्य को देखने की दिशा और सामर्थ्य। अतः इतिहास की समान घटनाओं के विश्लेषण से दो द्रष्टा; दो भिन्न प्रकार के निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं। इस बात को दो उदाहरणों से समझा जा सकता है। पहला उदाहरण वैदिक काल से सम्बन्धित है

ऋग्वेद में हवन-कुण्ड के निर्माण में ईंटों के प्रयोग के उल्लेख पर मार्क्सवादी डी. डी. कौसाम्बी की प्रतिक्रिया थी कि 'यायावर वैदिक आर्य भला ईंट से कैसे परिचित रहे होंगे जरूर ये ईंटें उन्हें मेसोपोटामिया से मिली होंगी।' इस पर एक अन्य अध्येता का प्रश्न था कि कौसाम्बी को इस बात का विचार करना चाहिए था कि ईंटों के आविष्कार की दृष्टि से मेसोपोटामिया प्राचीन है या हड़प्पा? उनकी टिप्पणी है कि 'आर्यों की यायावरी और बर्बरता की छवि जो पाश्चात्यों ने तैयार की; उसे बनाए रखने के लिए कौसाम्बी जैसे विद्वान किस सीमा तक जा सकते हैं! (हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य, भगवान सिंह, पृ. 177-78)

दूसरा, उदाहरण और भी मजेदार है जयशंकर प्रसाद के नाटक *स्कन्दगुप्त* की एक समीक्षा प्रेमचन्द ने लिखी, जो *माधुरी* के अक्टूबर, 1928 के अंक में प्रकाशित हुई। उसमें प्रेमचन्द जी ने प्रसाद जी से आग्रह किया कि "ईश्वर ने आपको जो शक्ति दी है, उसका प्रयोग वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के हल करने में लगाइए। (इतिहास के) इन गड़े मुर्दों को उखाड़ने से आज कोई फायदा नहीं है।" (*प्रेमचन्द रचना संचयन*, कमलकिशोर गोयनका, पृ. 876)

इतिहास के प्रति प्रेमचन्द जी की इस टिप्पणी पर शुक्ल जी ने भेदक प्रतिक्रिया की। उन्होंने अपने निबन्ध 'रसात्मक बोध के विविध रूप' में लिखा 'अर्थ-परायण लाख कहा करें 'गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या फायदा', पर हृदय नहीं मानता, बार-बार अतीत की ओर जाया करता है।' (*चिन्तामणि*, भाग-1, पृ. 208)

यहाँ 'अर्थ-परायण' विशेषण में जो भेदक व्यंजना है, उसकी कसक को प्रेमचन्द ने लम्बे समय तक अनुभव किया। नवम्बर, 1930 के 'हंस' में प्रकाशित प्रसाद जी के उपन्यास 'कंकाल' की समीक्षा में उन्होंने लिखा - मेरी पहली शिकायत पर कुछ लोगों ने मुझे खूब आड़े हाथों लिया।' (वही, पृ. 877)

शुक्ल जी ने यह भी लिखा 'मानव जीवन की चिरकाल से चली आती हुई अखण्डता; परम्परा के साथ तादात्म्य की भावना आत्मा के शुद्ध स्वरूप की नित्यता अखण्डता और व्यापकता का आभास देती है।' अतीत की स्मृति में मनुष्य के लिए स्वाभाविक आकर्षण है; हृदय के लिए अतीत एक मुक्ति लोक है; वर्तमान हमें अन्धा बनाए रखता है; अतीत बीच-बीच में हमारी आँखें खोलता रहता है। बीती बिसारने वाले 'आगे की सुध' रखने का लाख दावा किया करें, परिणाम अशान्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं 'बीती बिसारने' का अभिप्राय है जीवन की अखण्डता और व्यापक अनुभूति का विसर्जन; - केवल अर्थ की निष्ठुर क्रीड़ा। (वही, पृ. 208)

शुक्ल जी की इस प्रतिक्रिया से इस बात को अनुभव किया जा सकता है कि वे प्रेमचन्द के परामर्श से कितने आहत थे। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों था? आइए! इसे देखें।

भारतेन्दु से पूर्व के हिन्दी-साहित्य में राज-प्रशंसा में कितने ही कवियों ने कलम क्यों न चलाई हो; किन्तु उनमें से ऐसे केवल एक भूषण ही थे, जिनमें इतिहास-दृष्टि का प्रखर उन्मेष दिखाई पड़ता है। इसीलिए वे भारतीय जन की दुर्दशा, दुर्दशा के कारण और शौर्य एवं साहस से इस दृश्य के परिवर्तन की सम्भावना इन तीनों पर दो टूक राय दे सके। बाकी लोग तो 'बीती ताहि बिसार दे' की नीति पर चल रहे थे, अतः उनके सामने न तो कोई समस्या विद्यमान थी और न वे उसके कारणों की खोज में अतीत की ओर गए।

भारतेन्दु का बचपन प्रथम स्वातंत्र्य-समर की छाया में बीता। अतः देश की दुर्दशा की ओर उनका ध्यान विशेषतः गया, जिसे दूर करना उनकी दृष्टि में एक बड़ी चुनौती थी। जन-मन में उत्साह का पुनः संचार हो, इसके लिए उन्होंने राधाकृष्ण दास से कहा 'भारतवर्ष में अब ऐसे नाटकों की आवश्यकता है जो आर्य-सन्तानों को अपने पूर्व-पुरुषों का गौरव स्मरण कराएँ तुमरी सुनते-सुनते आर्यों में क्लीवपन अब चरम सीमा पर पहुँच गया है।'

डॉ. गोपाल राय ने लिखा है कि 'भारतेन्दु से प्रेरित हो किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने उपन्यासों में हिन्दू-गौरव की प्रतिष्ठा के लिए कार्य किया।' मैथिलीशरण गुप्त ने काव्य के क्षेत्र में 'भारत-भारती' लिखकर इस काम को आगे बढ़ाया, किन्तु इसका चरमोत्कर्ष प्रसाद के नाटकों; वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों और शुक्ल जी के निबन्धों में मिला जहाँ 'देशबद्ध मनुष्यत्व' को उन्होंने उँचे सम्मान का अधिकारी माना। काव्य के क्षेत्र में प्रसाद और निराला ने संयुक्त मोर्चा बनाया। 'हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती। स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती।' और 'भारती जय-विजय करे' जैसी कविताएँ देखते-देखते जन-जन का कण्ठहार बन गईं।

ध्यान देने की बात यह है कि हमारा जीवन हमारी परिस्थितियों पर अवलम्बित रहता है। अतः प्रकारान्तर से वे हमारे भावों का भी आलम्बन बनती हैं। देश या समाज की दुरवस्था या उसके सामने आ खड़े हुए संकट के निराकरण के लिए कोई तभी उठकर खड़ा हो पाता है; जब वह उसे अपना समझता हो; उसे प्रेम करता हो। यह काम उनके बस का नहीं है जो कुछ भी करने से पहले लाभ-हानि का हिसाब लगाना शुरू कर देते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि हिसाब-किताब से देश की दशा का ज्ञान मात्र ही हो सकता है; हित-चिन्तन और हित-साधना की प्रवृत्ति इस कोरे ज्ञान से भिन्न वस्तु है। (रस-मीमांसा, पृ. 108) ऐसी स्थिति में, स्पष्ट है कि स्वदेशानुराग; अपने पूर्व-पुरुषों के महदर्थपूर्ण कार्यों के प्रति श्रद्धा और अपने समय की चुनौतियों के कारणों-प्रभावों, और उनके निराकरण के मार्ग निर्धारित करने की सामर्थ्य किसी भी इतिहास-दृष्टि का अनिवार्य अंग होते हैं।

प्रसाद ने राष्ट्रीय-जीवन के विरुद्ध सबसे बड़ी चुनौती के रूप में पश्चिम के उन बौद्धिक प्रयासों को माना, जिनके द्वारा वे भारतीय जीवन-प्रवाह को निर्मूल करने में

लगे हुए थे। उन्होंने स्वयं लिखा पाश्चात्य शोधकों की मनोवृत्ति या विचारधारा भारत को आरम्भ में अनार्य देश मानकर उस पर विदेशी आर्यों का आक्रमण करना युक्ति-युक्त समझती है, जिससे यह प्रमाणित हो जाए कि आर्य लोग यहाँ के अभिजन नहीं; प्रत्युत विदेशी हैं। (काव्य और कला निबन्ध, पृ. 161) अब यदि ध्यान से देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रसाद जी के सारे नाटक ही नहीं; अपितु 'कामायनी' भी पाश्चात्य प्राच्यविदों और उनके मानसिक दासों की ओर से भारत के विरुद्ध चलाए जा रहे इसी मिथ्या षड्यन्त्र के विरोध में प्रसाद जी द्वारा भारत की ओर से किए गए वैचारिक संघर्ष का ही अंग है। निबन्धों में तो उन्होंने सप्रमाण दिखाया है कि गंगा, सिन्धु और सरस्वती के तीनों सप्तकों की भूमि, वैदिक आर्यों की लीला-भूमि थी। (वही, 143) इसी निबन्ध में वे पुनः कहते हैं कि इस प्राचीन सप्तसिन्धु के अन्तर्गत मेरुप्रदेश में ही अग्रजन्मा (आर्य) उत्पन्न हुए। उन्हें शिकायत है कि पाश्चात्य विद्वानों ने हमारे इस प्राचीन साहित्य को 'माइथालोजी' मान रखा है।

आर्य-आक्रमण की कल्पना को सिरे से खारिज करनेवाले डॉ. रामविलास शर्मा हों या भगवान सिंह दोनों ने ही पाश्चात्य प्राच्यविदों की नीयत पर गहरा सन्देह प्रकट किया। आर्य-आक्रमण के सिद्धान्त की पुष्टि के लिए पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिकों ने जो परिश्रम किया, उसका लक्ष्य क्या था? इसकी ओर संकेत करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भाषा और समाज' की भूमिका में लिखा "उन्नीसवीं और बीसवीं शती में विकसित होनेवाले ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि सभी भारतीय भाषा-परिवारों के स्रोत भारत से बाहर के हैं; भारत की अपनी कोई भी प्राचीन भाषा-सम्पदा नहीं है।" (पृ. 22)

वस्तुतः भारत-भूमि पर मौलिक रूप से भाषा-शून्यता को प्रमाणित करने के द्वारा वे जिस लक्ष्य को पाना चाहते थे वह है इस भूमि पर 'मानव-समाज' की मौलिक उपस्थिति के विरुद्ध पृष्ठभूमि तैयार करना। इस सम्बन्ध में उनकी समझ यह थी कि अगर किसी तरह यह प्रमाणित कर दिया जाए कि भारत में लब्ध सभी भाषाओं के भाषा-परिवारों का स्रोत भारत से बाहर है, तो फिर यह मनवाने में कठिनाई न होगी कि भारत-भूमि पर मानव-मात्र ही बाहर से आए हैं; क्योंकि भाषाएँ मानव-समाज की सहचरी हैं। इस तरह; उनका लक्ष्य था भारतीय समाज का मूल भारत से बाहर सिद्ध करके उसकी भारत-भूमि के प्रति निष्ठा और आत्मीयता को विखण्डित करना।

ठीक इसी प्रकार भगवान सिंह ने भी लिखा है कि "पाश्चात्य प्राच्यविद निश्चय ही एक दुर्धर्ष संग्राम में जुटे हुए थे और यह था भारत पर सांस्कृतिक विजय का संग्राम... भारत के स्वतन्त्र होते ही वैदिक अध्ययन में उनकी रुचि का एकाएक क्षीण होना अकारण ही नहीं माना जा सकता।" (हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य, पृ. 18)

शुक्ल जी ने लिखा "देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची देशभक्ति या देशप्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतन्त्र-सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता, वह देशप्रेम का दावा नहीं कर सकता। इस स्वतन्त्र-सत्ता से अभिप्राय स्वरूप की स्वतन्त्र-सत्ता से है; केवल अन्न-धन संचित करने या अधिकार भोगने की स्वतन्त्रता से नहीं। (रस-मीमांसा, 106) अन्यत्र उन्होंने फिर लिखा "यह ठीक है कि विज्ञान की साधना द्वारा संसार के वर्तमान युग का बहुत-सा रूप-विधान यूरोप का खड़ा किया हुआ है। पर क्या इसका यह मतलब है कि युग का सारा रूप-विधान यूरोप ही करे और हम आराम से जीवन के सब क्षेत्रों में उसी के दिए हुए रूप को लेकर रूपवान बनते चलें?" अन्त में; वे व्यथित मन से पुनः प्रश्न करते हैं "क्या अपने स्वतन्त्र स्वरूप-विकास की हमारी शक्ति सब दिन के लिए मारी गई?" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 366)

बाबू वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यास *झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई* के तो केन्द्र में ही स्वराज्य की स्थापना का संकल्प सक्रिय है। उनके उपन्यासों में अनेक पात्र ऐसे हैं; जो दमित और उत्पीड़ित हैं, किन्तु वे बुझते नहीं हैं। स्वत्व के लिए उनमें प्रतिशोध की ऐसी आग है, जो सम्पूर्ण उत्पीड़क जाति का सर्वनाश कर देती है। 'बीती ताहि बिसार दे' यह उनको स्वीकार नहीं है। 'अन्याय का प्रतिशोध' प्रसाद जी को भी व्यवहारतः स्वीकार्य है। उनका *चन्द्रगुप्त* हो या *ध्रुवस्वामिनी*; दोनों अन्याय का प्रतिकार करने के लिए तनकर खड़े हैं।

आजादी के बाद देश में जैसी हवा राजनीति के केन्द्रों से चली; उसमें 'हिसाब-किताब' प्रधान हो गया और 'देश का हित-चिन्तन' गौण। इसीलिए, आजादी के संघर्षकाल में जो जन राष्ट्रीय माने जाते थे, वे आजादी मिलने के बाद 'साम्प्रदायिक' कहकर गरियाए गए और जो तत्त्व साम्प्रदायिक और राष्ट्र-विरोधी थे, वे सब धर्मनिरपेक्षता के आवरण में समाकर सुरक्षित हो गए। यह सब अनुभूत श्रेय सत्य की अनदेखी का परिणाम है।

अन्त में; उपन्यास विधा के सम्बन्ध में कुछ बात अवश्य करना चाहूँगा। पद्य विधाओं में जैसा विराट् फलक; जीवन को समग्रता के साथ व्यक्त करने के लिए महाकाव्य के पास था आज के गद्य-युग में वही सामर्थ्य और अवसर उपन्यास में लब्ध है। इस अर्थ में उपन्यास गद्य में निबद्ध महाकाव्य ही हैं; और कहानियाँ खण्डकाव्य। ऐसी स्थिति में; देश-दशा की जैसी गहरी पड़ताल; उसके सुख-दुःख, साहस-दैन्य; कर्तव्य-अकर्तव्य, हित-अहित एवं शक्ति और दुर्बलता आदि का जैसा सूक्ष्म और जैसा गहरा चिन्तन और चित्रण उपन्यासकार कर सकते हैं; किसी अन्य विधा के लेखक के लिए वह सम्भव नहीं। अतः उनकी सामाजिक जिम्मेदारी भी बड़ी है।

कदाचित् इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में स्पष्टतः लिखा कि लोक या किसी जन-समाज में काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती हैं, उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष कराना उपन्यासों का काम है। (इतिहास, पृ. 368) ऐतिहासिक उपन्यास किस ढंग से लिखे जाएँ इसके लिए उन्होंने बँगला में राखालदास बन्धोपाध्याय द्वारा लिखित उपन्यास *करुणा* और *शशांक* की मानक के रूप में अनुशंसा की है। ऐतिहासिक उपन्यासकारों के मणिमुकुट बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के *आनन्दमठ* की सामाजिक जागरण में भूमिका जग जाहिर है। गुजराती में तो उपन्यास विधा का श्रीगणेश ही श्रीनन्दशंकर मेहता के ऐतिहासिक उपन्यास *करण थैलो* (1866) के साथ हुआ। बाद में, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के *पाटनगी प्रभुता* (1916) और *गुजरात नो नाथ* (1919) आदि उपन्यासों ने गुजराती समाज ही नहीं; अनूदित होकर अन्यान्य भाषा-क्षेत्र के निवासियों को भी उत्प्रेरित किया। असम में रजनीकान्त बरदले कृत *दण्डोवाद्रोह*, उड़िया कथा-साहित्य के शिखर पुरुष फकीर मोहन सेनापति की कृति *लच्छमा*, मराठी में हरिनारायण आप्टे कृत *सूर्योदय* और *वज्राघात* के साथ विष्णु सखाराम खाण्डेकर का *ययाति* और शिवाजी सावन्त का *छावा*, मलयालम में के. एम. पणिककर के *कल्याणमल* और *केरलसिंह*, तमिल के कल्कि कृष्णमूर्ति के *शिवकामची शपथम्*, कन्नड के मास्ति वेंकटेश अय्यंगार के *चिक्कवीर राजेन्द्र* और एस.एल. भैरप्पा के *आवरण* आदि उपन्यासों ने न केवल भारतीय इतिहास के अनेक उल्लास और अवसाद से भरे प्रसंगों को नई ऊर्जा से उभारा है; अपितु अपनी दुर्दशा के कारणों को भी निर्ममता से कुरेदा है। इसी क्रम में, हिन्दी उपन्यासकारों में वृन्दावन लाल वर्मा के अतिरिक्त, हजारी प्रसाद द्विवेदी (*पुनर्नवा* और *चारुचन्द्रलेख*), आचार्य चतुरसेन (*वैशाली की नगरवधू* और *सोमनाथ*), शिवप्रसाद सिंह (*कुहरे में युद्ध*, *दिल्ली दूर है* और *नीला चाँद*) आदि के उपन्यासों ने इतिहास-दृष्टि के आलोक को दूर तक बिखेरा है।

उपन्यासों की यह सूची न तो पूर्ण है; और न ऐसी सूची यहाँ प्रस्तुत किए जाने का कोई लाभ। मेरे विचार से इतिहास-दृष्टि के उन्मेष का राष्ट्रीय उन्नति के साथ गहरा सम्बन्ध है। गत दिनों काश्मीर में जो कुछ हुआ और अब पूर्वांचल में बांग्लादेशी नागरिक तथा झारखण्ड, छत्तीसगढ़ और आन्ध्र प्रदेश में चीन के मित्रों की जो शक्ति बढ़ी है, उसके पीछे भी क्या राजनीति के क्षेत्र में सक्रिय लोगों की अनुभूत श्रेय-सत्य को पहिचानने में रही दुर्बलता, कारण नहीं है?

भारतीय दर्शन का व्यावहारिक स्वरूप

एस.पी. दुबे*

पूरे विश्व में दर्शन-शास्त्र प्रायः व्यावहारिक रहा है। यूनानी दर्शन में थेलीज को प्रथम दार्शनिक के रूप में स्वीकार किया जाता है। उसने व्यावहारिक चिंतन को अधिक महत्त्व दिया। अरस्तू (384-322 ई.पू.) प्रायः सभी व्यावहारिक तथा भौतिक विधाओं की नींव रखते हैं। चीन में कन्फ्यूशियस (551-479 ई.पू.) का व्यावहारिक चिंतन सर्वविदित है। भारतीय चिंतन-परम्परा के भी प्रायः सभी प्रमुख सम्प्रदाय एवं विचारक व्यावहारिक रहे हैं। यह सही है कि व्यवहार के साथ परमार्थ का चिन्तन भी दार्शनिक सम्प्रदायों में अवश्य होता है। वस्तुतः व्यवहार और परमार्थ एक ही जीवन-प्रवाह के दो तट हैं। ये दोनों नदी के दो कूल जैसे हैं। जिसे जो कूल अनुकूल प्रतीत होता है वह उसके अनुसार जीवन-यापन तथा चिंतन करता है। इसे कठोपनिषद् में श्रेय और प्रेय के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। भारत की गंगा-जमुनी संस्कृति में मोक्ष को यदि हम शिखर मानें तो कर्म इसकी आधारशिला है। कहा गया है कि 'ज्ञानं भारं क्रिया विना'। निर्वाण यदि सरिता का एक तट है तो अर्थ और काम दूसरा तट और धर्म रूपी नौका से हम एक तट से दूसरे तट पर जाते-आते हैं।

वैदिक चिंतन की व्यावहारिक या अनुप्रयुक्त (applied) प्रवृत्ति हमें ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त (1.140-64) से ही मिलती है। स्तुति भाग कम होने से इस सूक्त को "अल्प-स्तव" कहा गया है। इस सूक्त का लोकोपकारी पक्ष है प्रायश्चित्त का विधान। मनुष्य द्वारा अज्ञानवश की गई त्रुटियों का परिमार्जन सदा संभव है। उदाहरणार्थ, यदि कोई ब्राह्मण चोरी करता है तो तीन रात उपवास करते हुए इस सूक्त का जप करने से वह पापमुक्त हो सकता है। इसी प्रकार ब्रह्म-हत्या का दोषी भी जप से पापमुक्त हो सकता है। पुरुषसूक्त (X.90) में जनसामान्य द्वारा बोधगम्य पुरुष से

* स्व. एस.पी. दुबे, भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय एवं तत्कालीन अध्यक्ष, अखिल भारतीय दर्शन परिषद का आलेख उनके स्वर्गवास के कुछ ही पहले प्राप्त हुआ था।

सृष्टि का विकास दिखाया गया है। इस सूक्त को समझने से जातिगत संघर्ष कम होते हैं। पुरुष से ही जंगल में पशुपक्षी पैदा होते हैं। इसी के शरीर से वर्णचतुष्टय का आविर्भाव हुआ है। प्रजापति या हिरण्यगर्भ सूक्त में प्रेय मार्ग का निर्देश मिलता है यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु। वाक् या देवी सूक्त का वाक् ही जगत् के व्यवहार से संभव बनाता है। अन्न को हमने ब्रह्म माना अन्नं ब्रह्म।

यजुर्वेद यज्ञ के माध्य से इस लोक तथा परलोक के सुखों का प्रावधान करता है। अथर्ववेद तो प्रायः सभी व्यावहारिक विषयों की चर्चा करता है। सामवेद गायन के माध्यम से अभीष्ट-पूर्ति की बात करता है। कुल मिलाकर मंत्र, ब्राह्मण तथा आरण्यक भागों से अभीष्ट-पूर्ति की बात करता है। कुल मिलाकर मंत्र, ब्राह्मण तथा आरण्यक भागों में त्रिवर्ग (अर्थ, काम तथा धर्म) का प्राधान्य है। सभी मंत्रों के विनियोग (application) मिलते हैं।

उपनिषदों में चातुर्वर्गीय चिंतन मिलता है, जहाँ पुरुषार्थ-चतुष्टय में मोक्ष को प्रधानता दी गई है। परन्तु मोक्ष-साधना अन्य पुरुषार्थों की कीमत पर नहीं होती। उपनिषदों के सर्वाधिक प्रतिष्ठित दार्शनिक याज्ञवल्क्य शास्त्रार्थ के प्रसंग में स्वर्णमण्डित सींग वाली गायों को शिष्यों द्वारा अपने आश्रम भेज देते हैं। वे मैत्रेयी की पूर्वानुमति से ही संन्यास लेना चाहते हैं। मोक्ष-साधना किसी वर्ग-विशेष का स्वत्वाधिकार नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् (IV.1) रैक्व-जानश्रुति आख्यान में हम इसे स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् मनुष्य को काममय बताता है। तैत्तिरीय उपनिषद् अन्तेवासी को धर्म का आचरण करने का आदेश तथा उपदेश देता है।

रामायण तथा महाभारत के विपुल साहित्य में त्रिवर्ग का प्राधान्य है। महाभारत में धर्म को प्रधानता देते हुए घोषणा की गई है यतो धर्मः ततो जयः। युद्ध में भी धर्म ही निर्णायक भूमिका का निर्वहन करता है। स्वयं भगवान् धर्म की स्थापना के लिए अवतार लेते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण लोकसंग्रह की चर्चा करते हैं और मनुष्य के लिए स्थितप्रज्ञ का आदर्श बताते हैं। यहाँ (VII.2) व्यावहारिक ज्ञान को विज्ञान कहा गया है।

दार्शनिक सम्प्रदायों में सर्वाधिक प्राचीन सांख्य माना जाता है। यह स्पष्टतया द्वैतवादी है। दुःखत्रय के अभिघात को समाप्त कर व्यक्ति कैवल्य प्राप्त करता है। पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योगदर्शन सांख्य की ही व्यावहारिक पूर्ति करता है। यम नियमादि के माध्यम से समाज को स्वस्थ और विवेकशील बनाना यहाँ विहित है। न्यायदर्शन की दृष्टि बहुत्व-संवलित यथार्थवाद है। विश्व के मूल में परमाणु, आत्मा तथा ईश्वर जैसे नित्य पदार्थ हैं। इस दर्शन को सारी व्यावहारिक विद्याओं का प्रदीप माना जाता है। वैशेषिक दर्शन सम्पूर्ण सृष्टि की यथार्थवादी व्याख्या करता है। इसकी दृष्टि भौतिक विज्ञान की है जिसके सहारे यह सत्य की मीमांसा करता है। बाह्यजगत् की विस्तृत मीमांसा यहाँ विशेष रूप से मिलती है। मीमांसा दर्शन को जगत् की सत्ता

मान्य है। यहाँ समस्त वेद को क्रियापरक माना गया है जिससे धर्म की सिद्धि होती है।

वेदान्त दर्शन के अधिकांश सम्प्रदाय व्यवहारपरक हैं। ये भक्ति के माध्यम से ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। भक्तिधारा मध्ययुग में अधिक प्रखर हुई। चैतन्य तो भक्ति को पंचमपुरुषार्थ मानते हैं। वल्लभाचार्य की भाँति वे ईश्वर को विरुद्ध धर्मों या गुणों का समाहार मानते हैं। रामानुज से लेकर रामानन्द तक सभी आचार्य वर्णाश्रम व्यवस्था की सीमा को समझते हैं तथा आवश्यकतानुसार इसका अतिक्रमण करने में हिचकते नहीं हैं। स्वयं शंकराचार्य भी आत्मबोध के लिए चाण्डाल को अपना गुरु मानने में झिझकते नहीं हैं। 21वीं शताब्दी में डॉ. भद्रेश दास का ब्रह्मसूत्र पर लिखा हुआ स्वामिनारायण भाष्य यथार्थपरक है।

जैन दर्शन का अनेकान्त श्रावकाचार (उपासक) को कम नहीं आँकता। बौद्ध धर्म-दर्शन में व्यवहार के आधार पर ही परमार्थ का निरूपण होता है। बुद्ध स्वयं नैतिक धर्म के समर्थक थे तथा आयुर्वेद के सिद्धान्त के अनुकूल द्वादश-निदान को उद्घाटित कर मध्यम मार्ग अपनाए जिससे यह विश्वधर्म बनने के मार्ग पर चल पड़ा। बोधिसत्त्व की अवधारणा तथा सर्वमुक्ति का आश्वासन यहाँ स्पष्ट हैं। इसके शील तथा करुणा ने किसे आकर्षित नहीं किया? उल्लेखनीय है कि शील, पंचव्रत तथा पंचयम (योग) भारतीय संस्कृति की त्रिवेणी के पंचरत्न हैं।

चार्वाक दर्शन की व्यावहारिकता विश्व-विश्रुत है। 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' की लोकायती अवधारणा आज के विश्व-बाजार का मूल मंत्र है।

तंत्र एवं आगम चिंतन के साहित्य में व्यावहारिक पक्ष का प्राचुर्य है। दक्षिण भारत के प्रमुख तमिल संत तिरुवल्लुवर (द्वितीय शताब्दी ई.पू. से 8वीं शताब्दी?) तो मोक्ष की चर्चा ही नहीं करते तथा त्रिवर्ग को ही पुरुषार्थों की श्रेणी में सम्मिलित करते हैं। वीरशैव दर्शन (लिंगायत) ने प्रमुखतः कर्णाटक में समाज के सभी वर्गों को सम्मान की दृष्टि से देखा है। स्मृतिकारों ने आचार को प्रधानता दी है। याज्ञवल्क्य-स्मृति शूद्र तथा विधवा को औचित्यपूर्ण अधिकार प्रदान करती है। स्मृतियों में धर्म को आचारजन्य माना गया है आचार प्रभवो धर्मः। यहाँ तक कहा गया है कि आचार-हीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते हैं।

कभी-कभी दर्शन को सैद्धांतिक (theoria) तथा धर्म को व्यावहारिक (praxis) कहा गया है। परन्तु भारत में एक-दो अपवादों (माध्यमिक दर्शन, नव्यन्याय) के अतिरिक्त धर्म दर्शन तथा व्यवहार और सिद्धान्त में अंतर नहीं है। जो लोग चिंतन और व्यवहार में अंतर करते हैं उन्हें दुरात्मा कहा गया है मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनः।

आधुनिक युग में नव्यवेदान्त का प्राधान्य रहा है। इसमें विवेकानन्द से लेकर राधाकृष्णन् तक अधिकांश विचारक जगत् की सत्ता को अपेक्षित महत्त्व प्रदान करते

हैं। इनमें से कुछ तो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानी भी रहे हैं। विवेकानन्द तथा रामतीर्थ ने वेदान्त के व्यावहारिक पक्ष को महत्त्व दिया तथा भारतीय समाज की वेदान्ती संरचना को समझा। अद्वैत दर्शन सभी में साम्य स्वीकार करता है। फिर जगत्-निषेध कहाँ और वर्ग-संघर्ष क्यों? वैज्ञानिक समाजवाद/साम्यवाद वर्ग-संघर्ष जैसे दोषों से युक्त है जबकि वेदान्ती समाजवाद समता, अहिंसा, अपरिग्रह, सत्याग्रह तथा वैराग्य जैसे धारणाओं पर आधारित हैं। इसमें व्यक्ति और समाज दो ध्रुव नहीं हैं। दोनों मूलतः एक ही हैं। यह सर्वकल्याणकारी, लोकहितकारी तथा शांतिप्रद है।

आधुनिक युग में अंग्रेजी माध्यम से प्रारंभ की गई शिक्षा-व्यवस्था में उच्च कक्षाओं में अध्यापन का कार्य करने वाले प्रोटेस्टेंट मिशनरियों ने भारतीय संस्कृति की आधारशिलाओं को हिलाना और उखाड़ना प्रारंभ किया। कर्म, पुरुषार्थ, वर्णाश्रम व्यवस्था सभी पर उनकी वक्र-दृष्टि पड़ी। इसकी पृष्ठभूमि में इस्लाम की वर्णविरोधी भावना भी विद्यमान थी। कुछ अधिक शिक्षित भारतीय विद्वानों ने भी विदेशियों के स्वर में स्वर मिलाते हुए भारतीय चिंतन को जीवन तथा जगत् का निषेधक घोषित किया। श्रीअरविन्द ने भी तापसी-निषेध को श्रुति पूर्ण माना। उपनिवेशीकरण इसका प्रधान कारण था। परन्तु सम्पूर्णानन्द, गाँधी और राधाकृष्णन जैसे मनीषियों ने भारत की मूलगामी संस्कृति के मूल्यवान् प्रत्ययों को स्पष्टतया व्याख्यायित किया। गाँधी ने तो सत्याग्रह को स्वतंत्रता-संग्राम का मूल अस्त्र ही बना दिया।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी भारत के अधिकांश शिक्षितवर्ग में भ्रम की स्थिति बनी रही। इस भ्रम को बनाए रखने में पूँजीवादी तथा साम्यवादी दोनों वर्ग के लोग सहयोगी रहे। परिणामतः सद्यः-उपकृत कुछ नए विचारक ऐसे प्रसंगों में अपलाप/प्रलाप करने लगे।

उत्तर-आधुनिक तथा संरचनोत्तर चिंतन के विकेंद्रीकरण के सिद्धांत (देखिए, Post-Modernism- A Very Short Introduction, by Christopher Butler, Oxford University Press, New Delhi, 2006) के हिमायतियों ने भारतीय समाज को तोड़ने का प्रयास किया। उत्तर-आधुनिक चिंतन तथा संरचनोत्तर चिंतन के दो प्रमुख विचारक रिचर्ड रोटी एवं देरिदा जैसे लोगों ने तर्क, नैतिकता, ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा, जैसे प्रत्ययों की धज्जी उड़ाया है। यद्यपि ऐसा विचार आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के पूर्व में मिलता है। परन्तु अभी जिस उत्साह से वितण्डावादी आपनी बात कहते हैं, वह नहीं देखा गया। आज लिंगभेद को आधार मानकर समाज को तोड़ने का विचार इनके एजेण्डा में प्रमुख है। उत्तर-आधुनिक चिंतन के मूल में सदेहवाद (Skepticism) के कारण यह विश्वजनीय सत्य को असंभव मानता है। परिणामस्वरूप यह सापेक्षवाद का रूप लेता है। इसमें संस्कृति के गुणगान (meta-narratives) के प्रति दुर्भावना भी मिलती है जिससे आज की युवा पीढ़ी संस्कारहीन और अनैतिक होती जा रही है।

उत्तर-आधुनिकता के विकेंद्रीकरण के विरोधाभासी रूप में परिधीय या सीमान्त (sub-altern) चिंतन केन्द्राभिमुखीय हो जाता है। यह एक प्रकार की प्रच्छन्न केन्द्रगामिता है। केन्द्र (center), त्रिज्या (radius) तथा परिधि (periphery) पर कोई न कोई तो अवश्य रहेगा।

उपनिवेशोत्तरकाल में प्रचारित उपाश्रयी चिंतन पर उपनिवेशी प्रभाव भी पर्याप्त है। 'उपनिवेश' शब्द 'उपनिवेशोत्तर colonial (farm) से निःसृत है जिसमें निहितार्थ है कि रोम के लोग अन्य देशों में रहते हुए भी अपनी मूल नागरिता बनाये रखते थे। अन्य लोगों की भूमि और सम्पत्ति को नियंत्रण में रखने की विचारधारा हैं।

उपनिवेशोत्तर (post-colonial) शब्द का प्रयोग पहली बार लंदन के डेली टेलीग्राफ पत्र ने 1959 में किया था जिसका अभिप्राय था यूरोपविरोधी। बहुसंख्यक विरोधी अर्थ में भी इसका प्रयोग मिलता है। इसमें एक प्रकार नव उपनिवेशवाद (neo-colonialism) भी पनपा जिसमें आर्थिक तथा संस्कृतिक निर्भरता प्रमुख कारण रही। कहीं-कहीं तो हमें आत्मोपनिवेशवाद (Self-colonialism) भी दिखता है। कुछ अर्थों में इसमें नव-पुरोहितवाद अथवा नव-ब्राह्मणवाद की भी झलक मिलती है। आरक्षण तथा कोटा इसमें प्रमुख कारण हैं।

सीमान्त-चिंतन में उपरोक्त सभी प्रभाव झलकते हैं। साम्यवाद तथा पूँजीवाद से समासतः प्रेरित तो यह है ही, कुछ अर्थों में प्रायोजित भी है। आभिजात्य या सामन्ती वर्ग के भद्र लोग अंग्रेजी या सभासदीय भाषा में जिन प्रत्ययों की व्याख्या करना अपना धर्म मानते हैं वह समाज-विभाजक एवं व्यक्तित्व-नाशक अधिक है, रचनात्मक कम।

अंग्रेजी के 'सब-अल्टर्न' शब्दा का प्रयोग अंग्रेजी फौज के अधीनस्थ अधिकारियों के लिए किया जाता है। बाद में इसका प्रयोग इतावली साम्यवादी एन्थोनी ग्राम्स्की (Antonio Gramsci, 1891-1937) के कारागारीय डायरी (कोलम्बिया विश्वविद्यालय द्वारा तीन खण्डों में प्रकाशित) में समाज के उपेक्षित या सीमांतक वर्ग के लिए हुआ। जो लोग विशिष्टतर (non-elite), अधीनस्थ (subordinated) तथा पारिधिक (marginalised) होते हैं, पिछड़े हैं, वंचित हैं, बहुजन, अल्पसंख्यक हैं तथा जिन्हें हम अन्य (others) या इतरेजनाः मानते हैं, उनके लिए ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है। ऐसे वर्ग को हम विकल्प के रूप में लेते हैं, अनिवार्यतः नहीं। 'सब-अल्टर्न, शब्दावली का प्रयोग भी तीन रीतियों (modes) में मिलता है (1) सामान्य पारिधिक, (2) अधिक पारिधिक (more subaltern) तथा (3) अतिपारिधिक (most sub-altern)। महानगरों का श्रेष्ठवर्ग (श्रेष्ठा- elite) पारिधिक पर जब चर्चा करते हैं तो वे परिध्यातीत (super altern) की श्रेणी में आ जाते हैं। वे शासनेतर संगठनों (NGO) के द्वारा अपनी बात जनसंचार के माध्यमों से प्रेषित करते हैं।

पारिधिक चिंतन में अवमानित (humiliated), अल्पसंख्यक (minorities), यौनवर्जित (sexually excluded), विविक्त वृद्ध (secluded old people) तथा

महिलाओं को भी सम्मिलित किया जाता है। इसमें दलित, वंचित तथा मूकजन के लिए उनकी ओर से उनके अधिकार तथा हित की बात उच्च स्वर में उठाना, प्रस्तुत करना तथा उनकी समस्याओं पर चर्चा करना और समाधान का प्रयास इत्यादि दिखाई पड़ता है।

भारत में उपनिवेशोत्तर सीमांत चिंतन का प्रारंभ 1982 में रंजित गुहा (तथा अन्य) द्वारा सम्पादित तथा 11 खण्डों में प्रकाशित पुस्तक Sub-altern Studies (आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, दिल्ली, 1982-92) में मिलता है। अन्य या मूक के लिए अभिजात्य वर्ग द्वारा बोलना कितना प्रामाणिक है यह एक विचारणीय बिन्दु है। इसके लिए अपेक्षित उक्ति के हृदय में प्रवेश कर, उसकी भावना को समझकर उसे अपनी भाषा में प्रभावी ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। इसे धर्म-दर्शन की शब्दावली में श्रुत्यर्थ-पर्यालोचना (Hermeneutics) कहा जा सकता है। वर्तमान में यह एक शोधपद्धति का रूप ले रहा है। (देखिए Ascroft Bill and Others, Past-colonial Studies: The key Concepts, London, 2009)। गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक (Spivak, The Post-Colonial Critic- A Critique of Post-Colonial Reason, Harvard University Press, 1999), होमी भाभा तथा पार्थ चर्जी के लेखों में भी सीमान्तक लोगों के स्वर को बुलंद करने का प्रयास मिलता है।

उपनिवेशोत्तर साहित्य पर दृष्टिपात करते समय यह स्पष्ट होता है कि इसमें कुछ सम्प्रत्यय ऐसे हैं जिनका प्रयोग बार-बार होता है। उदाहरणार्थ स्वांग (Mimicry), उभयमुखता (ambivalence), हड़पना (appropriation) अनुपयोग (catachaism) तथा दोहरापन (binarism)।

कबीर (1398-1448) का साहित्य इस प्रसंग में चर्चा के लिए देखा जा सकता है। स्वयं कबीर उत्तर भारतीय समाज के आंतरिक आलोचक थे। उन्होंने हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों ही परम्पराओं की रूढ़ियों की प्रखर शब्दावली में आलोचना की। पंडित और मुल्ला दोनों ही इनकी पदावली के लक्ष्य थे। इनकी भाषा पुरानी अवधी या पूर्वी, जिस पर खड़ी बोली का प्रभाव था, आभिजात्य संस्कृति से पृथक् है। कबीर के अनुयायियों में कुर्मी तथा अहीर प्रमुखतया पाए जाते हैं। वे दीक्षा के बाद जातिभेद से अपने को प्रायः मुक्त रखते हैं। परन्तु कबीर-पंथियों से अन्य लोगों की जाति पर उनकी निगाह अवश्य रहती है। अनेक देशी-विदेशी गवेषणा कार्यों में कबीरपंथियों को दलित बताकर आभिजात्य वर्ग से उनका संघर्ष प्रदर्शित किया जाता है। परन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। दोनों के बीच समन्वय के भाव मिलते हैं। यों तो समन्वय और संघर्ष का द्वन्द्व ऐसे हर समुदाय में मिलता है। लोगों में अवज्ञा (defiance) तथा प्रणति (submission) दोनों ही देखने को मिलती है। कबीरपंथियों के अनेक गुरु वैदिक पद्धति भी अपनाते हैं। उनके कुछ विद्वान संस्कृत में साहित्य रचना भी करते हैं तथा अपने को शास्त्री संबोधित करवाने में सम्मान की अनुभूति करते हैं।

मीरा ने (1504-1546) अपने जीवन में सामाजिक कटुता के विरुद्ध अनवरत संघर्ष करते हुए भी अपने मन की मधुरता बनाए रखी। उन्होंने लौकिक विवाह तथा सती प्रथा का विरोध किया। उनको प्रताड़ित करने में परिवार के नारीवर्ग के सदस्य भी पीछे नहीं रहे। अल्पायु में ही विधवा होने के कारण उनका राज परिवार और समाज में तिरस्कर हुआ। परन्तु वे गिरधर नागर को पति मान चुकी थीं अतः सती होने को तैयार नहीं हुईं। विष का प्याला हँसते-हँसते पीना उन्होंने स्वीकार किया। उनका वृंदावनी-भाव परवर्ती साहित्य में, प्रमुख रूप से महादेवी वर्मा के गीतों में, मिलता है। कुल मिलाकर मीरा ने अपने रामरतन को और गिरधर गोपाल को महत्त्व देकर समाज की प्रताड़ना सहते हुए एक अपूर्व आदर्श प्रस्तुत किया।

आज आवश्यकता है कि हर व्यक्ति इस प्रकार का विचार और व्यवहार प्रस्तुत करे जो हमारा समाज को तोड़ने की जगह जोड़ने का कार्य करे। आज हम विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र में रह रहे हैं। अज-नाभि का स्मरण करते हुए हम अपने देश को भारत, इण्डिया और हिन्दुस्तान में बाँटने का प्रयास न करें, इसे तिरंगा मानकर इसके लिए जीवन न्योछावर करने का भाव विकसित करें। विज्ञान और तकनीक के विकास से भौगोलिक रूप से हम आज एक विश्वबाजार में घूम रहे हैं, जिसको वसुधैवकुटुम्बकम् की ओर पहुँचने का एक कदम माना जा सकता है। परन्तु व्यक्ति, परिवार और समाज को तोड़ने वाले साहित्य तेजी से हमें एक दिशाहीन अंधी दौड़ में शामिल करना चाहते हैं जिसका कोई लक्ष्य नहीं दिखता है। भारतीय परिवेश में उधार लिए गए या बासी सिद्धांतों का विनियोग या अनुप्रयोग कितने हद तक सार्थक होगा, यह विचारणीय है। हमें गाँधी के उस प्रयोग को नहीं भूलना चाहिए जो उन्होंने अंग्रेजों के साथ सत्याग्रह के माध्यम से किया। घृणा के स्थान पर प्रेम, हिंसा के स्थान पर शांति, संघर्ष के स्थान पर समन्वय की अवधारणा को उन्होंने महत्त्व दिया। गाँधी द्वारा दिखाए गए मार्ग के प्रकाश में यदि हम सीमांत चिंतन पर गहरी दृष्टि से विचार करेंगे तो हमें नए और मजबूत भारत के निर्माण में पाथेय मिलेगा।

आधुनिकता, अन्तर्धर्म संघर्ष और बौद्धधर्म

अम्बिकादत्त शर्मा*

1

आधुनिकता अपने व्यापक अर्थों एवं अपने ऐतिहासिक विकास की सम्पूर्ण निष्पत्तियों के साथ मानव निर्मित एवं उसी से नियंत्रित इतिहास की एक विशिष्ट गति और प्रक्रिया है जिसने आज एक बलीयसी 'विश्व सभ्यता' का रूप धारण कर लिया है। आताल से पाताल तक फैल रही इस विश्व सभ्यता में दुनिया की तमाम सभ्यता और संस्कृतियाँ तथा धार्मिक परम्परायें अपनी जीवन दृष्टि और जातीय अस्मिताओं को मिटाते हुए मानो इस तरह उसमें समाती जा रही हैं जैसे 'ब्लैक होल' में सब कुछ अपनी इयत्ता और पहचान को समाप्त कर विलीन हो जाया करते हैं। इसके उत्स को रेखांकित करते हुए कहा जा सकता है कि इसका बीजारोपण छठी-सातवीं ईसापूर्व यूनान में हुआ था जिसे पश्चिम की आध्यात्मिक जन्मभूमि कही जाती है। वहीं से एक नये प्रकार की मनोवृत्ति या दृष्टि-विधा की उत्पत्ति और विकास हुआ और उसे ही फलसफा (फिलोसोफिया) कहा गया। इसी में से आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की विधाओं की उत्पत्ति हुई और एक ऐसे सांस्कृतिक ढाँचे और मनोभाव का निर्माण हुआ जो अपने अद्यतन विकासक्रम में सम्पूर्ण मानव जाति को अपने प्रभुत्व के दायरे में खींचता चला जा रहा है। सोचने के इस विशिष्ट ढंग को थियरिया कहा गया और जिसकी प्रविधि प्रत्ययात्मक थी। प्रत्ययात्मक अर्थात् कॉन्शेचुअल प्रविधि ही वह कुंजी है जिसके माध्यम से थियरिया सार्वभौमिकता का दावा करती है। कॉन्शेप्ट का व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी यही होता है कि किसी चीज़ को चारों तरफ से पकड़ कर अपनी मुट्ठी में ले लेना। भारत के अग्रणी सभ्यता वैज्ञानिक प्रो. जे.एल. मेहता¹ इस पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि "फलसफा एक असाधारण, नयी प्रकार की संस्कृति का नाम है, वह किसी देश और जाति से सीमित नहीं है। जहाँ भी यह चिन्तन शैली

*अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003

अपनायी जाती है, एक अभूतपूर्व उथल-पुथल पैदा होती है। सारी मानव जाति को, पश्चिम के माध्यम से इसका नेतृत्व मिले, यही इसका मिशन है।"

इमानुएल कांट² ने इसे ही यूरोप का नवजागरण कहा है और इस इनलाइटेमेंट को मानव बुद्धि का अपने पैरों पर खड़े होना अर्थात् बुद्धि की सर्वतंत्र स्वतन्त्र स्वायत्तता की प्रक्रिया में परिभाषित किया है। हेगेल इसे बुद्धि के उत्तरोत्तर आत्मचेतन होने की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में समझने का प्रयास करते हैं और सार्वभौम बुद्धि का चूड़ान्त प्रत्ययायन करते हुए पहली बार यूरोकेन्द्रित विश्व इतिहास, सभ्यता और संस्कृतियों का एक एकीकृत ढाँचा प्रस्तुत करते हैं। बड़ी रोचक बात यह है कि हेगेल ने यह दिखाया था कि विश्व इतिहास की गति बुद्धि के आत्मचेतन होने की एक प्रक्रिया है और इसमें चेतना का दीप पहले पूरब अर्थात् एशिया में जलता है, परन्तु आत्मचेतना के सूर्य का उदय पश्चिम में होता है। हेगेल के इसी दार्शनिक स्थापना में यूरोप की शीर्षता और उसके नेतृत्व की सार्वभौमिकता निहित है। एडमण्ड हुस्सल भी अपनी अन्तिम कृति 'यूरोपीय शास्त्रों का संकट' में आधुनिकता की इस प्रक्रिया को 'यूनीवर्सल रीज़न' पर आधारित एक ऐतिहासिक गति के रूप में व्याख्यायित करते हैं। मार्टिन हाइडेगगर ने आधुनिकता के नाम से विकसित हो रही विश्व सभ्यता की प्रमुख विशेषताओं में 'नास्तिकता' को एक माना है। यह नास्तिकता 'इदं सर्व' में अपने को निःशेष करना, दृश्य जगत् के पदार्थों एवं वस्तुओं तक में ही लिप्त रहना, जो न केवल जीवन शैली अपितु विचार के धरातल पर भी मनुष्य को उसके होने के आध्यात्मिक अर्थ और गन्तव्य की आन्तरिक अभीप्सा से ही अलग-थलग कर देता है। हाइडेगगर की दृष्टि में यही 'नास्तिकता' गहरे तौर पर पश्चिम के इतिहास का मूलभूत सूत्र और उसकी नियामिका शक्ति रही है जो अपने सम्पूर्ण परिणतियों के साथ 'सेक्युलरायजेशन ऑफ वर्ल्ड' अर्थात् विश्व के निर्बाध लौकिकीकरण की चौहद्दी बताने के लिए अपने दोनों पंखों, विज्ञान एवं तकनीक, को पृथ्वी के आताल-पाताल तक फैला दिया है। हाइडेगगर ने आधुनिकता के इस वृहद् कार्य योजना की समालोचना करते हुए इसे जगत् का निर्देवीकरण, दैवी दीप्ति का उड़ जाना, मानव का अपने ही घर से बेघर हो जाना कहा है।

अब यदि आधुनिक विश्वदृष्टि के विकास के इतिहास पर एक सिलसिलेवार दृष्टि डाली जाय तो यूरोकेन्द्रियता से अपेक्षाकृत मुक्त, विश्व इतिहास के प्रसिद्ध लेखक विलियम मैकनील³ की यह टिप्पणी बहुत ही समीचीन प्रतीत होती है कि "दो हजार वर्षों तक, 500 ईसा पूर्व और 1500 ईसा बाद के बीच दुनिया में सभ्य जीवन के किसी एक केन्द्र का निश्चित प्राधान्य नहीं था। प्राचीन दुनिया में जो चार विशिष्ट जीवन शैलियाँ ईसा पूर्व 500 तक विकसित हो चुकी थीं (मध्यपूर्व, भारत, यूनान और चीन) वे मोटे तौर पर एक-दूसरे के हमवजन थीं। इनमें से हर एक ने 2000 वर्षों तक अपनी स्वायत्तता बनाये रखी।" द्रष्टव्य है कि सम्प्रति आधुनिक विश्व परिदृश्य में

संस्कृति-सभ्यतामूलक इस चतुष्कोणीय ध्रुवों का प्रभाव ही नहीं, अस्तित्व ही मृतप्राय हो गया है। पूरब की ओर और पश्चिम के छोर को बहुत गहराई से समझने वाले सभ्यताओं के समीक्षक प्रो० जे.एल. मेहता⁴ इसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि “सन् 1500 के बाद यूरोप की बढ़ती हुई शक्ति और समृद्धि से बाकी तीनों अर्थात् मध्यपूर्व, भारत और चीन की जीवन शैलियाँ प्रभावित होने लगीं। सन् 1700 तक यह स्पष्ट हो गया था कि पश्चिम का पलड़ा इस दृष्टि से भारी पड़ रहा है, फिर भी तीनों की संस्कृति पर कोई गम्भीर चोट नहीं आई और न ही इस प्रकार के खतरे का किसी को अनुभव हुआ। सन् 1700 और 1850 की अवधि में यूरोपीय शक्ति का प्रभुत्व औरों के तन पर बढ़ता रहा पर उनके मन पर विशेष प्रभाव नहीं डाल सका। सन् 1850 के बाद प्राचीन सभ्यताओं का यह चौहरा सांस्कृतिक सन्तुलन नष्ट हो गया। पश्चिमोत्तर लोगों की परम्परागत जीवन और विचार शैली विघटित होने लगी। पश्चिम में भी यद्यपि सांस्कृतिक संकट की अनुभूति इस काल में हुई परन्तु इससे उसके सर्वव्यापी बौद्धिक प्रभुत्व में कोई असर पड़ता नहीं दिखा। ऐसा लगने लगा कि एक नई ऐतिहासिक दृष्टि से अभूतपूर्व सार्वभौम चेतना का अभ्युदय हो रहा है, दुनिया की सभी संस्कृतियाँ एक-दूसरे में अनुप्रविष्ट हो रही हैं, कि आज हम सभी एक अज्ञात लक्ष्य की ओर प्रारम्भिक कदम ले रहे हैं।”

आधुनिकता के इस प्रारूप को एक ओर जहाँ ‘सेक्युलरायजेशन ऑफ वर्ल्ड’ की एक वृहद् कार्य योजना के रूप में देखा जा सकता है तो दूसरी ओर इसे क्रिश्चियनिटी का विश्वविजय भी माना जाता है। यहूदी-क्रिश्चियन परम्परा की प्रमुख मान्यताओं में एक दुनिया को पूरे तौर से लौकिकीकरण की ओर ले जाना है। इसी में वे धार्मिक भावना का चरमोत्कर्ष देखते हैं। यहाँ एक बात जो महत्वपूर्ण है वह यह कि क्रिश्चियन एकेश्वरवाद को आधुनिक विज्ञान के उदय का आधार बताया जाता है और देखने लायक बात यह है कि आधुनिक विश्व सभ्यता के रचनात्मक तत्त्वों में क्रिश्चियनिटी का प्रच्छन्न योगदान व्यापक रूप से हुआ है। आधुनिक सभ्यता के नाम पर सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, विधिक एवं चिकित्सीय व्यवस्थाओं में जिन प्रत्ययों को तटस्थ एवं सार्वभौम मानकर स्वीकार कर लिया जा रहा है, वे सभी मौलिक रूप से क्रिश्चियन विश्वदृष्टि से उत्पन्न और उसी के अन्तर्गत के प्रत्यय हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिकता अपने मूल आकृति में सार्वभौम और स्वायत्त बुद्धि की आधारशिला पर विज्ञान, तकनीक एवं क्रिश्चियन विश्वदृष्टि का एक ऐसा गठबन्धन है जिसने एक विश्व सभ्यता का रूप अख्तियार कर लिया है।

2

इस आधुनिक विश्व सभ्यता की कुछ अपनी उपलब्धियाँ भी हैं और साथ ही साथ इसके कुछ अवांछित परिणाम भी हैं। इसके अन्यान्य अवांछित परिणामों में अन्तर्धर्म

संघर्ष और समसामयिक धार्मिक आतंकवाद को विशेष रूप से परिगणित किया जा सकता है। आधुनिक विश्व में जो आज अन्तर्धर्म संघर्ष देखे जा रहे हैं और जिसके दुष्परिणामों को भुगतने के लिए पूरी मानवता अपने को विवश अनुभव कर रही है, वह भी आधुनिकता के उपर्युक्त प्रारूप के प्रचार-प्रसार एवं अप्रतिहत रूप से उसकी बढ़ती हुई शक्ति की एक आवश्यक परिणति है। वैश्वीय रूप से मान्यता प्राप्त धार्मिक परम्पराओं में जो एक विशेष प्रकार की कट्टरता उपजी है उसका पूर्वपक्ष भी यही आधुनिकता है। वस्तुतः आधुनिकता का जन्म और विकास ही धर्म के विरोध में इस बात को लेकर हुआ है कि मानव जीवन के नियंत्रण-व्यवस्थापन का दायित्व धर्म के हाथ में नहीं बल्कि बुद्धि के हाथों में सौंपा जाना चाहिए। इसने बुद्धि के अधिकार क्षेत्र और हस्तक्षेप की कोई सीमा निर्धारित करना भी उचित नहीं समझा गया बल्कि यह उचित समझा गया कि बुद्धि जिसे अपने क्षेत्र में और अपने तरीके से प्रमाणित नहीं कर सकती वह या तो निरर्थक है या फिर विचार योग्य ही नहीं। अतः धर्म का एकबारगी नकार और जीवन एवं जगत् की इहलोकवादी व्याख्या आधुनिकता के स्वरूप में ही निहित है। ऐसी स्थिति में आधुनिकता यदि अपने स्वरूप और शक्ति की आत्मगवेषणा सार्वभौम रूप में करती है और यह गवेषणा यदि धार्मिक परम्पराओं के जीवन और जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोणों के निराकरण में प्रतिफलित होती है तो तत्तद धार्मिक परम्पराओं का अपने स्वरूप एवं अस्मिता के प्रति आत्मचेतन होना स्वाभाविक ही है। वस्तुतः आधुनिकता के सर्वग्रासी पूर्वपक्ष में धार्मिक परम्पराओं का अपने स्वरूप और अस्मिता के प्रति अतिरेक रूप से आत्मचेतन होना ही उन्हें एक विशेष रूप में क्रूर बनाता है। यही क्रूरता जब प्रसारवादी धर्मों के द्वारा चरितार्थ की जाती है तो अन्तर्धर्म संघर्ष और आधुनिकता विरोधी धार्मिक आतंकवाद की स्थिति बनती है। स्वामी विवेकानन्द⁵ ने इस भवितव्यता को भाँपते हुए एक प्रागोक्ति के रूप में बहुत पहले ही कहा था कि “विश्वविजय के लिए बौद्धों, ईसाईयों एवं मुसलमानों में संघर्ष होगा। 1993 में हटिंगटन अपने प्रसिद्ध लेख ‘दी क्लैश ऑफ सिविलायजेशनस’ में इसी तथ्य को समसामयिक परिप्रेक्ष्य में अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं।

आधुनिक विश्व में अन्तर्धर्म संघर्ष के सांप्रतिक स्वरूप पर विचार करें तो इस व्यूह रचना में एक ओर हिन्दू, यहूदी और आवेस्तिक प्रकार के जातीय धर्म आते हैं जो अपने जाति समूहों तक रक्त शुद्धता की दृष्टि से संरक्षणवादी बने हुए हैं। आधुनिकता के पूर्वपक्ष में इन धर्मों का भी अपने स्वरूप और अस्मिता के प्रति आत्मचेतन होना स्वाभाविक है लेकिन इस आत्मचेतना के फलस्वरूप इनमें शुद्धता की भावना ही जोर पकड़ती है और ऐसे धर्म फैलने के बदले इस कारण सिकुड़ सकते हैं। विश्वस्तरीय धार्मिक जननांकिकी के आँकड़े इन धर्मों के सिकुड़ने को प्रमाणित भी करते हैं। ऐसे धर्म अपने स्वरूप का विस्तार उच्च प्रजनन दर के आधार पर ही कर सकते हैं। धर्मान्तरण के द्वारा अपने को प्रसारित करना इनकी धार्मिक चेतना के ही

विरुद्ध है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जीतीय प्रकृति के संरक्षणवादी धर्म अन्तर्धर्म संघर्ष में सक्रिय भाग नहीं लेते। अन्तर्धर्म संघर्ष की व्यूह रचना में सक्रिय भाग लेने वाले वस्तुतः प्रसारवादी धर्म हैं। प्रसारवादी धर्मों में मुख्य रूप से ईसाई, इस्लाम और बौद्धों को परिगणित किया जा सकता है। आधुनिक विश्व परिदृश्य में अन्तर्धर्म संघर्ष वस्तुतः ईसाई और इस्लाम के बीच और उनके द्वारा ही प्रतिफलित हो रही है। इन दोनों धर्मों में प्रसारण की प्रवृत्ति उनके धर्म के स्वरूप में ही निहित है। इसलिए सम्पूर्ण विश्व को अपने धर्म में रूपान्तरित कर लेना वे अपना परम धार्मिक कर्तव्य समझते हैं। ईसाई धर्म सम्पूर्ण मानव जाति को क्रिश्चियन और एनोनिमस क्रिश्चियन नामक दो भागों में बाँटता है। उनकी यह धारणा है कि ईसामसीह का क्रूसेड सम्पूर्ण मानव जाति के उद्धार के लिए है। अतः वे लोग जो ईसु के प्रति कृतज्ञ हैं और उनके बताये मार्ग पर चलना स्वीकार कर लिया है वे तो घोषित ईसाई हैं लेकिन जिन लोगों ने ईसु के प्रति अपनी कृतज्ञता की घोषणा नहीं की है, वे भी अधोषित ईसाई हैं क्योंकि मनुष्य होने के नाते उन्हें भी ईसु के बलिदान से पाप-मुक्ति तो प्राप्त हुई ही है। अतः एक दिन उन्हें भी अपनी कृतघ्नता पर पछतावा होगा और वे ईसु के बलिदान के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए स्वयं के ईसाई होने की घोषणा करेंगे। सम्पूर्ण मानव जाति को क्रिश्चियन हो जाना चाहिए, इसके लिए ईसाईयों का यही तर्क है। बौद्ध धर्म भी इस प्रकार का तर्क दे सकता है कि बुद्ध प्रतिष्ठित निर्वाण के द्वार पर खड़ा होकर यह संकल्प लेते हैं कि मैं प्रतिष्ठित निर्वाण में तब तक प्रवेश नहीं लूँगा जब तक प्राणिमात्र को दुःख से मुक्ति न मिल जाय। अतः बोधिसत्व का महाकरुणा रूप उपायकौशल प्राणिमात्र की दुःख-मुक्ति के लिए उनके पीछे सक्रिय है। तथागत का यह संकल्प बौद्ध और अबौद्ध का भेद नहीं करता है। यहाँ प्राणि-मात्र को तथागत गर्भ के रूप में अवधारित किया गया है और धम्म रूपी उपायकौशल से सभी को बुद्धत्व प्राप्त होगा। वस्तुतः 'बुद्धत्व' का प्रकटीकरण बौद्ध धर्म-दर्शन के इतिहास-दर्शन का 'टेलोस' है। ऐतिहासिक प्रक्रिया में इस 'टेलोस' की अभिव्यक्ति का तात्पर्य प्राणिमात्र का अपने-अपने गोत्र के अनुरूप न्यूनाधिक रूप से 'बुद्धत्व' के आदर्श की ओर उन्मुख होना है। बुद्धोपदिष्ट 'धम्म' की भूमिका उपायकौशल रूप में है जो इस 'टेलोस' को अतिरिक्त त्वरण प्रदान करता है। इस्लाम धर्म के पास मेरी जानकारी की अनुमत सीमा में इस प्रकार की कोई दलील नहीं कि वह पूरी मानवता के इस्लामीकरण का प्रस्ताव रख सके। फिर भी वह सम्पूर्ण पृथ्वी को दारुल हरब और दारुल ऊलुम में विभाजित करता है। दारुल ऊलुम धरती का वह भाग है जहाँ इस्लाम का धर्मराज्य स्थापित हो चुका है और दारुल हरब वह भाग है जहाँ इस्लाम का धर्मराज्य स्थापित होना है। इस तरह प्रसारवादी धर्म अन्तर्धर्म संघर्ष में दो प्रकार से सक्रिय भाग लेते हैं। इसमें पहले प्रकार की सक्रिय भागीदारी धर्मांतर या अधार्मिक समूह को 'अभिशप्त पर' समझ कर अपने धर्म में धर्मान्तरित करने की होती है। इसे

वे अनुलंब्य ईश्वरीय आदेश रूप एक पवित्र धार्मिक कर्तव्य समझते हैं। इस प्रसारवादी प्रवृत्ति को चरितार्थ करते हुए ईसाई और इस्लाम धर्म ने विश्व इतिहास में क्या किया है और वह कितना जघन्य और क्रूर रहा है, उसका लेखा-जोखा दुनिया के पास उपलब्ध है। अन्तर्धर्म संघर्ष में प्रसारवादी धर्मों की दूसरे प्रकार की सक्रिय भागीदारी 'धार्मिक आतंक' के रूप में चरितार्थ होती है और इसका पूर्वपक्ष आधुनिकता ही बनती है। वस्तुतः आज का जो धार्मिक आतंकवाद है, वह अपने विशिष्ट स्वरूप में आधुनिकता के प्रति विरोध प्रदर्शन में ही प्रतिफलित होती हुई प्रतीत होती है। अब चूँकि आधुनिकता एक साभ्यतिक अवधारणा है, इसीलिए इसके पूर्वपक्ष में फलित अन्तर्धर्म संघर्ष को हटिंगटन सभ्यताओं के संघर्ष के रूप में देखते हैं।

अब हम पुनः स्वामी विवेकानन्द की उस प्रागोक्ति की ओर लौटते हैं कि "विश्वविजय के लिए बौद्ध, ईसाई और इस्लाम के बीच संघर्ष होगा।" स्वामीजी की इस प्रागोक्ति के दो धड़ों अर्थात् ईसाई और इस्लाम के बीच का सघः और संरचनात्मक संघर्ष सर्वविदित है। परन्तु धार्मिक संघर्ष और आधुनिकता के विरोध के इस अखाड़े से बौद्ध धर्म अभी भी बाहर ही खड़ा है जबकि इस अखाड़े का मजबूत प्रतियोगी बनने की सभी सम्भावनायें उसके साथ भी मौजूद हैं। वस्तुतः यही वह प्रश्न है जिसका समुचित उत्तर आधुनिक विश्व परिदृश्य में बौद्ध धर्म के अतिविशिष्ट औचित्य को उद्घाटित कर सकता है। द्रष्टव्य है कि ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध धर्म दुनिया का पहला प्रसारवादी धर्म है जो अपने संस्थागत स्वरूप में पहले-पहल धर्मान्तरण को स्वीकृति देता है। अपनी जन्मभूमि और उससे बाहर अन्तर्दर्शिय सन्दर्भों में इसकी प्रसरणशीलता अन्य प्रसारवादी धर्मों की तुलना में कहीं से कम नहीं आँकी जा सकती। परन्तु देखने लायक बात यह है कि जहाँ ईसाई और इस्लाम धर्म ने प्रसार के नाम पर हिंसा का इतिहास रचा है वहीं बौद्ध धर्म का प्रसारवादी अभियान आद्यन्त रूप से अहिंसक रहा है। इसके अहिंसक प्रसार के पीछे कोई एक कारण नहीं रहा बल्कि कई एक कारण मिलकर उसके प्रसारवादी अभियान को आनुशंसात्मक स्वरूप प्रदान करते हैं। इसमें पहला यह कि बौद्ध धर्म की जातीय मनोवृत्ति हिंसक और क्रूरता की नहीं रही है। अपनी जातीय मनोवृत्ति में हिन्दू और बौद्ध समान रूप से सहिष्णु रहे हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि अधिकांश धर्मों में एक विशिष्ट प्रकार की समाज-व्यवस्था दिखाई देती है जो धर्मकेन्द्रित संस्कृति का निर्माण करती है। बौद्ध धर्म अपने मौलिक स्वरूप में एक ऐसा नीति प्रधान धर्म है जिसमें सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था के प्रति कठोर आग्रह नहीं रहा है।¹⁶ बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए निर्वाणोन्मुखी विनयपिटक तो दिया लेकिन उन्होंने किसी धर्मशास्त्र को प्रस्तुत नहीं किया। स्वयं बुद्ध का कथन है कि "लोको मया सार्धम् विवदति नाहम् लोकेन सार्धम् विवदामी।"¹⁷ अतः श्रामण्य और निर्वाण का लोक व्यवस्था से कोई सीधा-सीधा सम्बन्ध नहीं बनता है। यद्यपि दीघनिकाय के सिंगालवादसुत्त में बुद्ध ने छः दिशाओं

को नमस्कार करने की जो विधि बताई है उससे उपासकों के सामाजिक जीवन सम्बन्धी कतिपय आचारों का संकेत अवश्य मिलता है। इस सुक्त में छः कर्त्तव्यों अर्थात् पिता का पुत्र के प्रति और पत्नी के प्रति कर्त्तव्य, शिष्य का गुरु के प्रति और गुरु का शिष्य के प्रति कर्त्तव्य, पति का पत्नी के प्रति और पत्नी का पति के प्रति कर्त्तव्य, मित्रों का परस्पर एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य, स्वामी का सेवकों के प्रति और सेवकों का स्वामी के प्रति कर्त्तव्य और उपासकों का भिक्षुओं के प्रति तथा भिक्षुओं का उपासकों के प्रति कर्त्तव्य निर्देशित किए गए हैं। परन्तु इस प्रकार के अपवादभूत लोकाचार सम्बन्धी उपदेशों से यह समझना कि बुद्ध का एक विशेष प्रकार की लोक-व्यवस्था को निर्मित करने के प्रति दृढ़ आग्रह था, उचित नहीं होगा। बौद्ध धर्म में गृहस्थ जीवन की अपेक्षा भिक्षु जीवन की श्रेष्ठता का भूरि-भूरि प्रतिपादन किया गया है। अतः बौद्ध धर्म में भिक्षु बनने की प्रक्रिया एक तरह से समाज निरपेक्षकरण की प्रक्रिया कही जा सकती है। यही कारण है कि बौद्ध धर्म किसी भी भूसांस्कृतिक समूह में बिना किसी व्यवधान और उसे विस्थापित किए बिना ही अपना स्थान बना लेता है। बहुलतावादी धार्मिक परिप्रेक्ष्य में यदि अन्तर्धार्मिक संघर्षों के कारणों को विवेचित किया जाय तो यह तथ्य स्पष्ट रूप से सामने आता है कि धार्मिक संघर्ष का जीवन्त कारण धर्मों के बीच का तात्त्विक भेद न हो कर उनके आचार संहिताबद्ध सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष ही होते हैं।¹⁸ वस्तुतः आस्था-प्रणाली के रूप में 'धर्म' और औचित्य प्रणाली के रूप में 'संस्कृति' का जब किसी धर्म में एकीकरण हो जाता है तो वैसा धर्म अपने प्रसारवादी अभियान में किसी दूसरे समूह के धर्म और संस्कृति दोनों को विस्थापित कर अपने को प्रतिष्ठित करता है। सामी धर्मों के प्रसारवादी अभियान में यह बात स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। परन्तु बौद्ध धर्म में स्वतन्त्र संस्कृति निर्माण की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती है। इसका जन्म ही वैदिक हिन्दू परम्परा के उस परिवेश में हुआ जहाँ आस्था प्रणाली और औचित्य प्रणाली में उस तरह का एकीकरण नहीं रहा है जैसा कि सामी परम्परा की धार्मिक संस्कृति में देखा जाता है। भारत में बौद्ध धर्म भारतीय संस्कृति के अंगभूत बन कर विकसित हुआ और भारत से बाहर जहाँ भी गया वहाँ-वहाँ की सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था को विस्थापित किये बिना तत्तद संस्कृतियों के साथ रच-बस गया। बौद्ध धर्म चीन में कन्फ्यूसियस एवं ताओ के रंग में रंगा तो जापान में शिन्तोबौद्ध कहलाया और तिब्बत में लामायी परम्परा के साथ समीकृत हुआ। ऐसे ही दक्षिणी एशियाई देशों में भी इसने अलग-अलग सामाजिक-सांस्कृतिक परम्पराओं के साथ अपने को समन्वित किया है। अपनी जन्मभूमि में भी बौद्ध धर्म ने कभी सांस्कृतिक स्वायत्तता का दावा नहीं किया। यदि बौद्ध परम्परा में यत्र-तत्र सांस्कृतिक विरोध के कुछ बिन्दु दिखाई भी पड़ते हैं तो उसे पूर्वतन रूप से स्थापित संस्कृति में परिष्कार समझना चाहिए न कि स्वतन्त्र सांस्कृतिक स्वायत्तता की उपस्थापना। अतः बौद्ध धर्म में स्वतंत्र और स्वायत्त संस्कृति को

विकसित करने की प्रवृत्ति ही नहीं रही है। यह बात बौद्ध धर्म के अन्तर्धार्मिक संघर्ष में सक्रिय रूप से भाग नहीं लेने का एक महत्त्वपूर्ण स्वरूपगत कारण प्रतीत होता है।

3

अब यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थापित होता है कि बौद्ध धर्म के स्वरूप में वह कौन-सा तत्त्व निहित है जिससे उसकी उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ अनुप्राणित होती हैं और उसके अहिंसक प्रसार का मार्ग प्रशस्त करती हैं। अवधेय है कि भगवान् बुद्ध के समक्ष यह प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि मनुष्य को नैतिक कैसे बनाया जाये और इसके लिए कौन-सी सामाजिक-सांस्कृतिक आचारसंहिता सर्वाधिक उचित होगी। उनके समक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह था कि आखिर मनुष्य नैतिक क्यों नहीं है? पुनः यदि मनुष्य को एक बनी बनाई आदर्श आचारसंहिता दे भी दी जाये तो क्या इतने मात्र से वह नैतिक हो जायेगा? ऐसे आचारसंहिताओं की कमी तब भी नहीं थी और आज तो बिलकुल भी नहीं है। भगवान् बुद्ध अपनी धार्मिक कार्य योजना को 'पटिसोतगामी' कहकर वस्तुतः इसी प्रश्न का उत्तर देते हैं। संक्षेप में इसका वास्तविक अभिप्राय मानवीय चेतना के प्राकृतिक प्रवाह, पाशविक अभिवृत्ति और अभिमुखता का आत्यान्तिक निरोध है। मनुष्य की चेतना जब प्राकृतिकता और जैव वुभुक्षाओं से ऊपर उठती है तभी वह अपने होने के अर्थ और गन्तव्य की जिज्ञासा के साथ औचित्यानौचित्य के अन्वेषण में प्रवृत्त होती है, अन्यथा वह राग-दोष और मोह में उलझे होने को ही अपने होने का सत्य समझ रही होती है। इसके अभाव में मानवीय परिस्थिति के नैतिकीकरण की कोई भी योजना अत्तदीपा न होकर किसी परायत्त स्रोत से आदेशात्मक रूप में उस पर बाहर से थोपी ही जा सकती है। अतएव पटिसोतगामिता ही मानवीय चेतना के नैतिकीकरण की बौद्ध दृष्टि का निहितार्थ है। इस अर्थ में पटिसोतगामिता न केवल आधारभूत है बल्कि नैतिकीकरण की पूर्व भूमि भी है जिसे चेतना, कर्म और संसार के नैतिकीकरण के रूप में समझा जा सकता है।

बौद्ध धर्म में यह बात देखने लायक है कि किस प्रकार सम्पूर्ण बौद्ध व्यवस्था मानवीय चेतना की प्राकृतिकता के प्रतिपक्ष में ही खड़ी की गई है जो मनुष्य को कर्त्तव्याकर्त्तव्य की कोई सामाजिक आचारसंहिता प्रदान नहीं कर मूलभूत रूप से पहले-पहल मनुष्य को नैतिक होने की पात्रता प्रदान करती है। यह पटिसोतगामी बौद्ध दृष्टि मनुष्य को जिस रूप में नैतिक होने की पात्रता प्रदान करती है उससे वह किसी भी आचारसंहिताबद्ध नैतिक व्यवस्था को उसके आदर्श स्वरूप में आत्मसात् कर सकता है। बौद्ध दृष्टि इसी अर्थ में आर्य दृष्टि है और उसके आर्यत्व की यही पहचान है। द्रष्टव्य है कि अप्पदीपोभवः और सत्कायदृष्टि (सत्कायदृष्टि प्रभवः सर्वे क्लेशः) के निरोध की अन्विति भी इसी पटिसोतगामिता से बनती है। हीनयान और महायान की मूल्य दृष्टि एवं साधना पद्धतियाँ सब के सब पटिसोतगामी भूमि पर ही मनुष्य के

प्राकृतिक चित्त के विशोधन के लिए बनाई गई हैं। बौद्ध परम्परा में योनिशः और अयोनिशः मनसिकार पूर्वक धर्म प्रविचय तथा चित्त चैत्सिकों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण का जो अत्युच्च विभज्यवादी प्रयास किया गया है उसका निहितार्थ भी चेतना के प्राकृतिक प्रवाह और उसकी अवस्थाओं (जिसमें राग-द्वेष और मोह आदि के बहुविध रूप उत्पन्न होते हैं) को पुंखानुपुंख समझकर उनसे निवृत्ति पाने के सूत्र खोजने में निहित है। माध्यमिकों का सर्वदृष्टिप्रहाण (सर्वदृष्टिप्रहाणाय शून्यतामृतदेशना) भी चेतना के प्राकृतिक प्रवाह में बनने वाली यावत् दृष्टियों को विखण्डित कर पटिसोतगामी चित्त भूमि पर ही खड़ा होता है। ऐसे ही शील, समाधि और प्रज्ञा तथा ब्रह्मविहार एवं पारमिताएँ इत्यदि सब के सब चेतना के प्राकृतिक प्रवाह की विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रतिपक्ष रूप चित्तभूमि के रूप में ही परिभाषित किए गए हैं। अतः बौद्ध धर्म दर्शन की मूलभूत पटिसोतगामी दृष्टि वास्तव में एक निदान है जो चेतना के प्राकृतिक आग्रहों से घिरे हुए मनुष्य का उपचार करता है और उसे नैतिक होने के लिए, बिना किसी अतिमानवीय लंगर के, आत्मचेतन रूप से तैयार करता है। दूसरे शब्दों में बौद्ध धर्म की सम्पूर्ण कार्य योजना मानवीय चेतना के संक्लेषों का व्यवदानीकरण है (चित्तमेव संक्लिष्यते चित्तमेव व्यवदायते) और इसी व्यवदानीकरण में कर्म और संसार का नैतिकीकरण विवक्षित है। अतः पटिसोतगामी चित्तभूमि पर मानवीय चेतना का व्यवदानीकरण ही बौद्ध धर्म के स्वरूप में निहित वह विशिष्टता है जिसके चलते बौद्ध धर्म अपने इतिहास में प्रसारवादी होते हुए भी अहिंसक बना रहा और इस तरह उसका प्रसारवादी अभियान कभी सामी परम्परा के धर्मों की तरह प्रतिघाती नहीं बना।

अब यदि बौद्ध धर्म के इस स्वरूपगत प्रवृत्ति को 'अस्मिता और हिंसा' के समसामयिक बौद्धिक विमर्श के सन्दर्भ में देखें तो कहा जा सकता है कि पटिसोतगामिता उसके लिए मूलगामी है। दार्शनिक धरातल पर इसके द्वारा वह 'सत्कायदृष्टि' - जिसमें आत्ममोह, आत्मप्रेम और आत्मरक्षा तथा तज्जन्य अकुशल मानव प्रवृत्तियों का धारण-पोषण होता है - को उसके सारे घटकों के साथ विखण्डित करता है। सत्कायदृष्टि ही वास्तव में वह मूल है जिसके आधार पर मनुष्य विभिन्न प्रकार की 'अस्मिताओं' को ऐतिहासिक प्रक्रिया में पालता-पोषता रहता है। यही अस्मितायें व्यावहारिक जीवन में सभी प्रकार के छोटे-बड़े संघर्ष और अन्तर्विरोधों के कारण बनती हैं। बौद्ध धर्म इस 'अस्मिता बीज' को ही विखण्डित कर उसे निर्बीज करते हुए मनुष्य में निहित 'मौलिक बुद्धत्व' के प्रकटीकरण का मार्ग प्रशस्त करता है। इस तरह बौद्ध धर्म में मनुष्य की मौलिक अस्मिता उसका 'बुद्ध' होना है। यह एक ऐसी अस्मिता है जो उन सभी अस्मिताओं का अन्ततः निषेध है, जिनसे जीवन के विविध प्रकार के पारस्परिक अन्तर्विरोधों का जन्म होता है। मनुष्य की मौलिक अस्मिता रूप इस बुद्धत्व का जन्म महामाया के गर्भ से नहीं बल्कि प्रज्ञा के गर्भ से होता है। महामाया के गर्भ से तो गौतम जन्म लेते हैं लेकिन प्रज्ञा-गर्भ से उत्पन्न 'बुद्ध' का

प्राणीमात्र की दुःखमुक्ति हेतु महाकरुणा के सम्पादन में अहर्निश निरत रहना स्वरूपलक्षण होता है।

इस तरह बौद्ध धर्म ने अपने स्वरूपगत कारणों से न केवल स्वयं को आधुनिक विश्व में अन्तर्धर्म संघर्ष से बाहर रखा है बल्कि आधुनिकता विरोधी समसामयिक धार्मिक आतंकवाद का भी वह समर्थक नहीं है। आज प्रसारवादी धर्मों की आधुनिकता या पश्चिम विरोधी कट्टरवाद अथवा आतंकवाद पूरी दुनिया के लिए महत्वपूर्ण तथ्य बन गया है। अमर्त्य सेन⁹ एक चौंका देने वाली सूचना देते हुए कहते हैं कि "डार्विन तथा विकासवादी विज्ञान को अमेरिका के शिक्षित समाज द्वारा संगठित रूप से जितना विरोध झेलना पड़ा है, उतना दुनिया के किसी देश में नहीं।" यह आधुनिकता विरोधी ईसाई फण्डामेंटलिज्म का एक आधुनिक उदाहरण है। इसी प्रकार इस्लामी कट्टरता के निशाने पर भी पश्चिम के वैज्ञानिक प्रगतिशील मूल्य और प्राथमिकताएँ ही रहती हैं। एक समय जब पृथ्वी के कुछ महत्वपूर्ण भागों में मुस्लिम शासकों (सातवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक) का प्रभुत्व था, तब उन्हें अपने को प्रतिक्रियात्मक रूप से आत्मपरिभाषित करने की जरूरत नहीं पड़ी थी। परन्तु आज पश्चिमी आधुनिकता के समक्ष वे स्वयं को एक 'विरोधी अन्य' के रूप में महसूस करते हैं और पश्चिमी आधुनिकता को 'शैतान' जैसा या कुछ अन्य घोषित कर उसे नेस्तनाबूद करने का इरादा रखते हैं। परन्तु ईसाई और इस्लाम धर्म एकान्तिक रूप से ईश्वरवादी होने के कारण जिस तरह आधुनिकता और पश्चिमी विज्ञान के धुर विरोधी हैं, उसी तरह बौद्ध धर्म आधुनिकता का विरोधी हो ही नहीं सकता।

बौद्ध धर्म कोई ईश्वरीय अथवा अपौरुषेय आदेश नहीं बल्कि मानवीय चेतना की भावनामयी प्रज्ञा से उपजा हुआ विशुद्ध ज्ञान है। यह एक रोचक तथ्य है कि बौद्ध धर्म-दर्शन का जन्म भी कुछ-कुछ वैसी ही प्रवृत्तियों के साथ और लगभग उसी काल में हुआ है जिस काल और जिन प्रवृत्तियों को लेकर आधुनिकता का जन्म हुआ था। बुद्धि की स्वायत्तता और व्यक्ति का स्वाभिमान दोनों ही मूलभूत प्रवृत्तियाँ रही हैं। बुद्ध द्वारा 'अप्यदीपोभव' की घोषणा व्यक्ति को सभी प्रकार की अतिमानवीय अधीनस्थता से मुक्त करता है और साथ ही साथ शब्द प्रमाण का विरोध मानव बुद्धि की स्वतन्त्रता की गवेषणा है। भारतीय परम्परा में चार्वाक को भी शब्द प्रमाण का विरोधी माना जाता है लेकिन लोकायत परम्परा में शब्द प्रमाण का विरोध उतना मूलगामी नहीं जितना कि बौद्ध परम्परा का है। चार्वाक अतीन्द्रिय सत्ता के प्रत्यायक शब्द प्रमाण का विरोध करता है जबकि बौद्ध परम्परा में शब्द को सर्वांशतः प्रमाण होने की पात्रता से ही वंचित रखा गया है। शब्द के प्रमाण होने की न्यूनतम आवश्यकता इतनी है कि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध होना चाहिए ताकि भाषा के द्वारा यथार्थता का प्रतिनिधित्व किया जा सके। बौद्ध परम्परा शब्द और अर्थ में किसी भी प्रकार के सम्बन्ध का निषेध करते हुए समस्त भाषीय संकेतों को विकल्प तक सीमित कर देता

है। भाषा और विकल्प में जन्य-जनक भाव बौद्ध दर्शन का एक विशिष्ट सिद्धान्त है¹⁰ जो अपनी समस्त निष्पत्तियों के साथ भाषा को सेक्रेट के बदले सेक्युलर धरातल पर ला कर खड़ा कर देता है। धार्मिक भाषा के क्षेत्र में सेक्रेट और प्रोफेन का भेद धार्मिक कट्टरता को किस हद तक बढ़ाने वाली अवधारणा है, यह सर्वविदित ही है। बुद्ध का यह कहना कि 'हे भिक्षुओं मेरे वचन को मेरे प्रति श्रद्धा के कारण स्वीकार न कर उस तरह ग्रहण करो जैसे स्वर्णकार सोने को तपा कर, काट कर और निकष पर घिस कर उसे परखता है' वस्तुतः गुह्य और गोपित भाषा के सर्वविध निषेध का अधिवचन है।¹¹ इसी तरह प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त जिसे बुद्ध स्वयं ही धम्म का समानार्थी स्वीकार करते हैं वह भी सम्पूर्ण जगत् को कारण-कार्य की ऐसी श्रृंखला में अवधारित करता है जिसमें कुछ भी अकारण तो नहीं लेकिन कुछ भी आदिकारण अथवा स्वयंभू (कौजा सुई) जैसा भी नहीं है। अतः बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पादवाद भी एक ऐसा सिद्धान्त है जो संसार की व्याख्या संसार के अन्दर ही सम्यक् रूप से करता है। इस संसार का कोई आद्य नियामक अथवा मूल संसार से बाहर है, प्रतीत्यसमुत्पादवाद में इसके लिए कोई स्थान नहीं है। बौद्ध दर्शन की यह दृष्टि आधुनिकता के "सेक्यूलराइजेशन ऑफ वर्ल्ड" की कार्य योजना के सर्वथा अनुरूप है।

इस प्रकार बौद्ध धर्म-दर्शन के ऐसे बहुत से बिन्दुओं को संकेतित किया जा सकता है जो आधुनिकता की मूलभूत प्रवृत्तियों से साम्य रखते हैं। परन्तु दोनों के बीच के कुछ निर्णायक अन्तरों की भी अनदेखी नहीं की जा सकती। आधुनिकता और बौद्ध धर्म दोनों ही बुद्धिवादी हैं परन्तु आधुनिकता में बुद्धि का आदर्श 'सार्वभौम बुद्धि' है जबकि बौद्ध बुद्धि का आदर्श 'सार्वभौम प्रज्ञा' है। सार्वभौम प्रज्ञा बुद्धि के लिए विजातीय नहीं बल्कि उसी का विशुद्धिकृत रूप है। सार्वभौम प्रज्ञा के आलोक में जीवन और जगत् का जो अर्थ उद्घाटित होता है, वैसी अर्थवत्ता सार्वभौम बुद्धि जीवन और जगत् में दिख ही नहीं सकती है। सार्वभौम बुद्धि कभी भी भेददृष्टि का अतिक्रमण नहीं कर सकती। वह अधिक से अधिक स्तरीकरण और मानकीकरण में ही प्रतिफलित होती है। इसके विपरीत सार्वभौम प्रज्ञा प्राणिमात्र में समता का दर्शन करती है और इसलिए उसका पर्यवसान महाकरुणा में होता है। इस कारण आधुनिकतामूलक मानववाद 'एन्थ्रोपोसेन्ट्रिक' ही बना रहता है जबकि बौद्ध मानवतावाद 'बायोसेंट्रिज्म' में रूपान्तरित हो जाता है।

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी:

1. कविकर्म और चिन्तन, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली, पृ. 30.
2. यूरोप के नवजागरण के अर्थ में आधुनिकता को परिभाषित करते हुए काण्ट ने कहा है - "Aufklaerung ist der Ausgang des Menschen aus Seiner Selbst - Verschuldeten unmuendigkest" - Berlinischer Monatsschrift, 1783.

3. कविकर्म और चिन्तन, पृ. 27.
4. वही, पृ. 27.
5. विवेकानन्द साहित्य, नवम् खण्ड, अद्वैताश्रम, षष्ठ संस्करण, 2000, पृ. 273.
6. अपनी जन्मभूमि में बौद्ध किसी सांस्कृतिक स्वायत्तता का दावा नहीं करते। इस सन्दर्भ में वाचस्पति मिश्र एवं जयन्त भट्ट की यह टिप्पणी द्रष्टव्य है - न हि प्रमाणीकृत बौद्धाद्यागमा अपि लोकयात्रायां श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण निरपेक्षगममात्रेण पवर्तन्ते। अपितु तेषु सांवृतमेतदिति ब्रुवाण लोकयात्रायां श्रुत्यादीनेवानुसरन्ति (न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका - 2-1-68) ऐसे ही जयन्त भट्ट का कथन है - बौद्धादयोः शेषे दुरात्मानो वेदप्रामाण्य नियमिता एव चाण्डालादिस्पर्श परिहरन्ति (न्यायमंजरी)। भारतीय परम्परा के दो धुरन्धर नैयायिकों की ऐसी टिप्पणियों के स्वर यद्यपि आलोचनात्मक है तथापि इन्हें एक महत्त्वपूर्ण संकेत के रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि बौद्ध धर्म भारत में धार्मिक रूप से तो स्वायत्त रहा है लेकिन सांस्कृतिक स्वायत्तता की अभिप्रेरणा उसमें नहीं रही।
7. सुत्तनिपात, अगञ्जेय सुत्त।
8. जॉसेफ रुन्जो ने इस धार्मिक तथ्यात्मकता को उद्घाटित करते हुए बहुत ही समीचीन टिप्पणी किया है कि - "Thus religion is a human construct (or institution) which fundamentally involves beliefs of two levels : (1) It involves the Meta-belief that the religion in question does indeed refer to a transcendental reality which gives meaning to life, and (2) it involves specific beliefs - including vital core beliefs - about the nature of that reality and the way in which it gives meaning to life. The first short of belief is shared by world religions; the second short of belief is the point of conflict among world religions. - God commitment and the faiths: pluralism Vs relativism - Philosophy of religion: An Anthology, Edited by Louis P. Pojman - Words worth publication, 1998, p. 548-49.
9. हिंसा और अस्मिता का संकट, पृ. 10, राजपाल एण्ड सन्स, 2011.
10. विकल्प योनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः, दिङ्नाग, प्रमाण समुच्चय।
11. तापाच्छेदात् निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्बचो न तु गौरवात्।।

बीजगणित की विकास-यात्रा*

कृपाशंकर सिंह**

‘विश्व के प्रसिद्ध बीजगणितज्ञ’ बीजगणित की विकास-यात्रा से सम्बन्धित एक विश्लेषणात्मक पुस्तक है। विभिन्न विषयों से सम्बन्धित सैकड़ों वर्षों का भारतीय चिन्तन-मनन है, उनमें गणित और ज्योतिष जैसे विषयों में महारत हासिल करने वाले महान विचारकों के अनुसन्धान सम्बन्धी कार्यों को आम लोगों तक पहुँचाने का काम अपेक्षाकृत कम हुआ है, जबकि हमारे यहाँ ऐसे-ऐसे विचारक हुए हैं, जिनकी खोजें और स्थापनाएँ चमत्कार के रूप में हमारे सम्मुख हैं। परन्तु अधिकतर भारतीयों को उनके बारे में पर्याप्त जानकारी नहीं है। यद्यपि ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में भारत की जो उपलब्धियाँ हैं, उनमें अनेक ऐसे विषय हैं जिन्हें विश्व के सम्मुख प्रस्तुत करने का काम अनेक विदेशी विभूतियों ने भी किया है। उदाहरण के लिए, बीजगणित को ही यदि लें तो प्रो. मोनियर विलियम्स ने बहुत पहले यह लिखा था कि “बीजगणित और ज्यामिति तथा ज्योतिष में उनके उपयोग की खोज का श्रेय हिन्दुओं को है।”

कोलब्रुक ने लिखा है कि “अरबवासियों के जानने के पूर्व ही भारत में बीजगणित अपनी श्रेष्ठतम पूर्णता की स्थिति में था।”

इस बात की बड़ी जरूरत है कि विभिन्न विषयों में कार्य करनेवाले विद्वान और अनुसन्धानकर्ता भारत तथा विश्व की महान विभूतियों को लोगों के सम्मुख लाएँ। प्रो. महेश दुबे की यह पुस्तक ‘विश्व के प्रसिद्ध बीजगणितज्ञ’ उसी दिशा में एक सराहनीय कार्य है। प्रो. दुबे ने भारत के साथ विश्व के अन्य प्रसिद्ध बीजगणितज्ञों का जिस सरल भाषा में सुस्पष्ट रूप से वर्णन किया है, वह प्रशंसा योग्य है। गणित को सामान्यतया दुरूह विषय समझा जाता है। ऐसे दुरूह विषय को सहज-ग्राह्य बना देना निश्चय ही प्रशंसनीय कार्य कहा जाएगा।

*विश्व के प्रसिद्ध बीजगणितज्ञ (बीजगणित विकास यात्रा) लेखक प्रो. महेश दुबे, प्रकाशक नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, नेहरूभवन, 5, इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज II, वसन्तकुंज, नई दिल्ली-110070

** कृपाशंकर सिंह, डी-6, स्ट्राबेरी हिल, शिमला 171002

इस पुस्तक में गणितज्ञों की गणित सम्बन्धी महत्वपूर्ण उपलब्धियों का वर्णन और विश्व को उनकी देन को तो प्रस्तुत किया ही गया है, साथ में गणित से इतर विषयों में उनकी रुचि और योगदान को भी रेखांकित किया गया है। उदाहरण के लिए आयलर का संगीत के क्षेत्र में योगदान, उनके संगीत के सुरों की गणितीय व्याख्या। इसी तरह लाग्रान्ज की रुचि बीजगणित के साथ-साथ तत्त्वमीमांसा, धर्म, दर्शन, इतिहास, चिकित्साशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र तथा रसायनशास्त्र जैसे विषयों के अध्ययन में भी थी। उनके लिए रसायनशास्त्र और बीजगणित दोनों ही समान रूप से सरल विषय थे। उन्हें संगीत से गणित के लिए एकाग्रता मिलती थी। इस तरह की अन्य अनेक जानकारियाँ इस पुस्तक में दी गई हैं, जो उसे अधिक रोचक और पठनीय बनाती हैं।

इस पुस्तक का आरम्भ यूक्लिड से किया गया है, जिसने ज्यामितिकार के रूप में महानता प्राप्त की थी। यूक्लिड की पुस्तक ‘एलिमेण्ट्स’ एक कालजयी रचना कही जाती है। “ज्यामिति के मूलभूत सिद्धान्तों और प्रमेयों को आज भी यूक्लिड की प्रविधियों के आधार पर पढ़ाया जाता है।” 1719 ई. में जगन्नाथ पण्डित ने संस्कृत में ‘एलिमेण्ट्स’ का अनुवाद किया गया था, जिसके बाद हिन्दी में इसे ग्रहण किया गया। इस पुस्तक में यूक्लिड के बीजगणित सम्बन्धी कार्यों की ही चर्चा की गई है।

छठी शताब्दी ई. पूर्व के पाइथागोरस प्रसिद्ध गणितज्ञ के साथ ‘अलौकिक और जादुई शक्ति सम्पन्न रहस्यानुष्ठानों के गाथापुरुष’ के रूप में प्रसिद्ध थे। यह भी समझा जाता है कि “पाइथागोरस ने अपना अधिकांश गणित और रहस्यवाद का ज्ञान इजिप्ट और भारत की अपनी वृहत्तर यात्राओं से अर्जित किया था। “पाइथागोरस का प्रमेय कि, “एक आयत का विकर्ण उतना ही क्षेत्र इकट्ठा बनाता है, जितने कि उसकी लम्बाई और चौड़ाई अलग-अलग बनाती है।” प्रो. दुबे का मानना है कि इस प्रमेय को ‘बौधायन पाइथागोरस प्रमेय’ कहा जाना चाहिए, क्योंकि बौधायन के ‘शुल्बसूत्र’ में इस प्रमेय को पाइथागोरस से बहुत पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका था।

भारतीय इतिहास में गुप्तकाल को स्वर्णिम काल के रूप में याद किया जाता है। इस काल में कला-साहित्य से लेकर धार्मिक और दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्रों में अनेक उच्चकोटि की रचनाएँ प्रकाश में आईं। आर्यभट्ट का जन्म इसी गुप्त साम्राज्य के सम्राट बुधगुप्त के राज्यकाल में 476 ई. में हुआ था। उन्हें क्रान्तिकारी गणितज्ञ और ज्योतिषविद् कहा गया है। आर्यभट्ट के तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है आर्यभटीय, आर्यभट्ट सिद्धान्त और सूर्य सिद्धान्त प्रकाश। परन्तु आज आर्यभटीय कृति ही उपलब्ध है।

आर्यभटीय को प्रथम ज्योतिष ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसमें चार अध्याय हैं गीतिकापाद, गणितपाद, कालक्रियापाद और गोलपाद।

गीतिकापाद में परिभाषाओं के अलावा ज्योतिषीय प्राचलों और ज्या सारणियों तथा काल की इकाइयों और ग्रहों की स्थितियों की विवेचना है। गणितपाद में अंकगणित और बीजगणित के निष्कर्ष हैं। कालक्रियापाद में समय की ईकाइयों और ग्रहों की स्थितियाँ दी गई हैं तथा गोलपाद में सूर्य, चन्द्रमा के साथ दूसरे ग्रहों की विवेचना की गई है।

आर्यभट्ट के अवदान के कुछ बिन्दुओं को प्रो. दुबे ने इस तरह व्यक्त किया है

1. आर्यभट्ट ने सत, त्रेता, द्वापर और कलियुग की अवधि को 4:3:2:1 के स्थान पर समान वर्षों की कालावधि में विभाजित किया है।
2. उन्होंने स्वरो और व्यंजनों की सहायता से बड़ी-बड़ी संख्याओं के लिखने की सांकेतिक पद्धति आविष्कृत की।
3. उन्होंने अपने पूर्ववर्ती गणितज्ञों की तुलना में (पाई) का सटीक और अधिक सही मान ज्ञात किया। वे प्रथम ऐसे गणितज्ञ हैं, जिन्होंने यह मान दशमलव के बाद चार अंकों तक शुद्ध ज्ञात किया।
4. उन्होंने $3^0 45'$, के अन्तर पर ज्या सरणियाँ विकसित कीं।
5. उन्होंने यह सिद्ध किया कि पृथ्वी अपने अक्ष पर पूर्व से पश्चिम की ओर घूमती है।
6. उन्होंने सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहण की सही गणितीय व्याख्या प्रस्तुत की। आर्यभट्ट का कथन है 'छादयति शशी सूर्य शशिनं महती च भूच्छया,' अर्थात् सूर्यग्रहण के समय सूर्य को चन्द्रमा ढक लेता है और चन्द्रग्रहण के समय पृथ्वी की बड़ी छाया चन्द्रमा को ढक लेती है।

आर्यभटीय ग्रन्थ की अनेक टीकाएँ मिलती हैं, पर सर्वाधिक प्रसिद्ध टीका भास्कर प्रथम की महाभास्करीय है, जिसका समय 629 ई. है।

जहाँ तक बीजगणित का प्रश्न है, आर्यभट्ट को पहला ऐसा गणितज्ञ माना जाता है, जो बीजगणित के जनक के रूप में मान्य हैं। उन्होंने बीजगणित को गणित की एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में विकसित किया।

महेश दुबे ने लिखा है कि आर्यभट्ट अनिर्धारित समीकरणों को हल करने की प्रविधि, जिसे कुट्टकार की प्रक्रिया कहा जाता है, के विश्व के अग्रणी गणितज्ञ हैं। यह गणित का लोकप्रचलित और लोकरंजक रूप है। पुस्तक में इसके दो उदाहरण दिए गए हैं, उनमें से एक यह है कि

एक मन लोहा सौ हथियार : पउवा छुरी सेर कटार। पँच पँच सेर बने तलवार।

एक मन लोहे से सौ हथियार बनते हैं। चाकू एक पाव का, कटार एक सेर और तलवार पाँच सेर की बनती है प्रत्येक की संख्या ज्ञात करो?

उत्तर चाकू = 96, कटार = 1 और तलवार = 3

श्रीधराचार्य के विषय में लिखते हुए यह कहा गया है कि "गणितीय प्रश्नों की काव्यात्मक प्रस्तुति उनकी (श्रीधर की) विशेषता है"

पुस्तक में त्रिशतिका का एक उदाहरण दिया गया है, जिसका अर्थ है- 'श्रेष्ठ भ्रमरों के समूह में से 1/6 पाटली वृक्ष में, 1/3 कदम्ब वृक्ष में, 1/4 आम्रवृक्ष में, 1/5 विकसित पुष्पों वाले चम्पक वृक्ष में, 1/30 सूर्य किरणों द्वारा पूर्ण विकसित कमलवृन्द में आनन्द ले रहे थे और एक मत्त भृंग आकाश में भ्रमण कर रहा था। बतलाओ उस समूह में भ्रमरों की संख्या कितनी थी?

548 ई. में गुजरात में जन्मे ब्रह्मगुप्त की रचना "ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त के 24 अध्याय और 1022 श्लोकों में ब्रह्मगुप्त ने ज्योतिष और गणित सम्बन्धी जानकारी दी है। इस ग्रन्थ के बारहवें (गणिताध्याय) और 18वें (कुट्टकाध्याय) अध्याय गणित से सम्बन्धित हैं।

गणिताध्याय में गणितीय परिकर्म एवं प्रक्रियाओं के साथ श्रेणी व्यवहार, क्षेत्र-व्यवहार (त्रिभुज, चतुर्भुज आदि के क्षेत्रफल) छाया-व्यवहार, राशि-व्यवहार (अन्न के परिमाण जानने की विधियाँ) आदि की विवेचना है। कुट्टकाध्याय में कुट्टक विधि से प्रश्नों को हल करने की विधियाँ दी गई हैं। 103 श्लोकों का यह अध्याय मुख्यतः बीजगणित पर केन्द्रित है।

महेश दुबे ने इस बात का जिक्र किया है कि किस तरह ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थों का बगदाद में अरबी में अनुवाद हुआ था। खलीफा अल-मंसूर, जिन्होंने 762 ई. में बगदाद बसाया था, के समय में ब्रह्मगुप्त के दो ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया गया था, 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' का अरबी में अनुवाद 'अलसिन्द हिन्द' नामसे और 'खण्ड खाद्यक' का अनुवाद 'अलअरकन्द' शीर्षक से हुआ था। इनके अरबी अनुवादक क्रमशः इब्राहिम अल फजारी और याकूब इब्न-तारीक हैं।

ब्रह्मगुप्त के अवदान को बताते हुए महेश दुबे ने कहा है कि "अरबवासी बीजगणित के आविष्कर्ता नहीं, अपितु प्राप्तकर्ता थे। बीजगणितीय प्रविधियों को अरब में पहुँचाने का श्रेय निश्चय ही ब्रह्मगुप्त को है।"

'ब्रह्मगुप्त ने चतुर्भुज के क्षेत्रफल और विकर्णों को ज्ञात करने सम्बन्धी सूत्र दिए।'

उनकी श्रेष्ठतम उपलब्धियों में समीकरण $X^2 - NY^3 = +1$ पर उनके योगदान की गणना होती है।

महेश दुबे ने जार्ज जासेफ के हवाले से कहा है कि "परिमेय पूर्णांकों में इन समीकरणों के हल ज्ञात करनेवाले ब्रह्मगुप्त पहले गणितज्ञ थे। उनकी प्रविधियाँ विलक्षण और व्यापक हैं।"

9वीं शताब्दी के महावीराचार्य 'एक अप्रतिम गणितज्ञ थे,' साथ में उनमें एक 'कवि की कल्पनाशीलता और एक कलाकार के सृजनात्मक उन्मेष का व्यापक रूप

(भी) देखने को मिलता है। उनकी पुस्तक 'गणित सार संग्रह' नौ अध्यायों में विभक्त ग्रन्थ है, जिसमें 'गणितीय परिकर्म, ज्यामितीय प्रश्नों एवं बीजगणितीय प्रविधियों, सम्बन्धी विश्लेषण हैं। साथ में नौवीं शताब्दी में दक्षिण भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिदृश्य का भी दर्शन होता है।

गणित के क्षेत्र में महावीराचार्य के योगदान का आकलन जैसे तो एक विस्तृत विश्लेषण की अपेक्षा रखता है, पर यदि दो-चार बिन्दुओं को देना चाहें तो प्रो. दुबे के अनुसार वे ये होंगे।

1. 'धनात्मक तथा ऋणात्मक राशियों का वर्ग धनात्मक होता है और उस राशि के वर्गमूल क्रमशः धनात्मक और ऋणात्मक होते हैं। चूँकि वस्तुओं की प्रकृति में ऋणात्मक राशि वर्ग-राशि नहीं होती, इसलिए उसका कोई वर्गमूल नहीं होता।
2. लघुतम समावर्त्य की अवधारणा को प्रस्तुत करने का श्रेय महावीर को है।
3. भारतीय गणितज्ञों में एक मात्र महावीर ने दीर्घवृत्त (ellipse) की चर्चा की है। उन्होंने इसकी परिधि और क्षेत्रफल निकालने का नियम भी दिया है।'

महावीराचार्य के योगदान का वर्णन करते हुए महेश दुबे ने उनके कई एक रोचक बीजगणितीय उदाहरण दिए हैं। इसी तरह का एक साहित्यिक उदाहरण उनके 'गणित सार संग्रह' से इस प्रकार दिया गया है

“महावीर ने वसन्त ऋतु की एक मादक रात्रि का चित्रण करते हुए, मनोरम उद्यान में स्थित भवन में प्रणय चर्चा में मस्त एक युगल का वर्णन किया है। प्रणय कलह में पत्नी के गले से टूटी मुक्ता माला के मोती गिरकर बिखर गए। टूटकर गिरे हुए मोतियों की संख्या भिन्न में दर्शाते हुए महावीर कहते हैं उस मुक्ताहार के 1/3 मोती दासी के पास पहुँचे, 1/6 शय्या पर रह गए, शेष के 1/2 और पुनः अग्रिम शेष के 1/2 और फिर अग्रिम शेष के 1/2। इस प्रकार कुल 6 बार में प्राप्त मुक्तराशि सर्वत्र गिरी। माला में 1161 मोती बिना गिरे रह गए। यदि तुम प्रकीर्णक भिन्नों का मान निकालना जानते हो तो हार में कुल मोतियों की संख्या ज्ञात करो?”

(इसे पुस्तक में बीजगणितीय रूप में हल करके मोतियों की कुल संख्या 3456 दी गई है।)

प्रो. दुबे का कहना है कि भारत में गणित के विकास में उनके (महावीराचार्य) योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता। भारत के गणितज्ञों में उनका स्थान अप्रतिम और अद्वितीय है।

मध्ययुग के सर्वश्रेष्ठ गणितज्ञ और ज्योतिषविद् उमर खय्याम (1040-1123) न केवल बीजगणित के उद्भूत विद्वान थे, वरन् एक अत्यन्त प्रतिभाशाली कवि के रूप

में भी उनकी ख्याति थी। बल्कि यह कहना अन्यथा न होगा कि अपने युग के बहुत प्रतिभावान गणितज्ञ होते हुए भी गणित सम्बन्धी उनके योगदान की ओर विद्वानों का उतना ध्यान नहीं गया, जितना जाना चाहिए था। ऊपर से “उनके परवर्ती गणितज्ञों ने खय्याम के कार्यों में दिलचस्पी लेने की बजाय उनकी उपेक्षा की। सम्भवतया खय्याम अपने युग से कहीं आगे थे।”

यह हो सकता है कि खय्याम ने स्वयं भी अपने कवि रूप को प्रधानता दी हो। उन्होंने स्वयं कहा है

“और दी ख्याति प्रतिष्ठा बेच, उन्होंने लेकर बस यह गान।”

अगर यह कहा जाए तो गलत नहीं होगा कि खय्याम की वास्तविक प्रसिद्धि उनकी रूबाईयात को लेकर है। रूबाई फारसी (और उर्दू) का एक विशेष छन्द है, जिसके पहले, दूसरे और चौथे पद में काफिया होता है। पुस्तक में खय्याम की रूबाई का एक उदाहरण दिया गया है

*घनी सिर पर तरुवर की डाल। हरी, पाँवों के नीचे घास
बगल में मधुमदिरा का पात्र। सामने रोटी के दो ग्रास
सरस कविता की पुस्तक हाथ। और, सबके ऊपर तुम प्राण
गा रहीं छेड़ सुरीली तान। मुझे अब मरू नंदन - उद्यान।*

भारतीय गणितज्ञों में भास्कराचार्य का स्थान सबसे ऊँचा माना जाता है। जार्ज सार्टन ने माना है कि “हम भास्कर को भारतीयों का अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ गणितज्ञ कह सकते हैं।”

भास्कर का जन्म 1114 ई. में महाराष्ट्र के विज्जडविडे में हुआ था। वे शांडिल्य गोत्र के ब्राह्मण थे। उन्होंने छत्तीस वर्ष की आयु में 'सिद्धान्त शिरोमणि' की रचना की थी, जो गणित और ज्योतिष की रचना है। इसके चार भाग हैं लीलावती, बीजगणित, गोलाध्याय और ग्रहगणित। इनमें 'लीलावती' अत्यन्त लोकप्रिय रचना है। उस पर लिखी गई दस टीकाओं का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त उस पर लिखी गई अनेक हिन्दी टीकाएँ हैं।

भास्कराचार्य एक कवि भी थे। उन्होंने गणितीय प्रश्नों को भी कविता में व्यक्त किया है। कविता में व्यक्त उनके एक प्रश्न का अनुवाद इस प्रकार है “संग्राम में क्रुद्ध अर्जुन ने कर्ण के वध के लिए जितने बाण लिए, उनके आधे से कर्ण के बाणों का निवारण किया। बाणों की कुल संख्या के वर्गमूल के चार गुने बाणों से घोड़ों को मारा। 6 बाणों से शल्य को, 3 बाणों से छत्र, ध्वज और धनुष को काटा तथा एक बाण से कर्ण का सिर काट डाला। तो बताओ अर्जुन ने कितने बाण धारण किए थे।”

इसे बीजगणित में रूपान्तरित करने पर बाणों की कुल संख्या 100 निकलती है।

‘लीलावती’ से बीजगणित का एक और उदाहरण

भ्रमर समूह के आधे के वर्गमूल के तुल्य भ्रमर मालती पुष्प पर चले गए। सम्पूर्ण भ्रमरों का 8/9 भाग भी वहीं चला गया। कमल के पराग में अनुरक्त एक भ्रमर रात्रि में कमल कोश में बन्द हो गया। उसकी प्रतीक्षा में एक भ्रमरी कमल पर गूँजती रही। हे कांते : भ्रमरों की कुल संख्या बताओ।

(इससे समीकरण प्राप्त करने पर भ्रमरों की कुल संख्या 72 होगी।)

एक और उदाहरण

किसी हंस कुल के वर्गमूल के आधे के सात गुणित हंसों को विलासपूर्वक जलाशय के तट पर जाते हुए मैंने देखा। शेष दो हंस जल में कलह क्रीड़ा कर रहे थे। हे बाले! हंसों की कुल संख्या बताओ।

(हंसों की कुल संख्या X^2 मानने पर इससे जो समीकरण प्राप्त होता है, उसके आधार पर हंसों की कुल संख्या =16 होगी)

फ्रांस में बीजगणित का आरम्भ सोलहवीं शताब्दी में हुआ, जिसके अग्रणी गणितज्ञों में फ्रैंकॉइस वाइटा (1540-1603) का नाम लिया जाता है। हालाँकि वाइटा पेशे से कानूनविद् और राजनीतिक प्रशासक थे। गणित और खासतौर पर बीजगणित उनके फुसरत का विषय था। पर आज वह बीजगणित के कारण ही जाने जाते हैं। वाइटा को 'आधुनिक बीजगणित का जनक' कहा जाता है। 'आपेरा मेथिमेटिका' शीर्षक से वाइटा के कार्यों का एक संकलन 1646 ई. में प्रकाशित हुआ था।

महेश दुबे ने वाइटा के योगदान के बारे में बताते हुए यह कहा है कि वाइटा ने ही बीजगणित में '+' और '-' चिह्नों के प्रयोग की शुरुआत की और ज्ञात तथा अज्ञात राशियों के लिए क्रमशः व्यंजनों (BCD...) और स्वरो को अपनाया।

वाइटा ने बीजगणित और ज्यामिति के अन्तःसम्बन्धों की त्रिकोणमिति की सहायता से व्याख्या की।

उन्होंने खगोल विज्ञान में अपने निष्कर्षों के आधार पर यह कहा कि ज्यामिति की दृष्टि से कोपरनिकस का सिद्धान्त सही नहीं है।

फ्रांस के अन्य बीजगणितज्ञों में पियरे द फर्मा (जन्म 1601) के बारे में बताते हुए उन्हें एक मौलिक और रचनात्मक गणितज्ञ कहा गया है। वे प्राथिकता के सिद्धांत के संस्थापक भी माने जाते हैं।

फ्रांस के ही रेने दकार्त ने गणित की शाखाओं ज्यामिति, बीजगणित, गणितीय विश्लेषण के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने 'वैश्लेषिक ज्यामिति' की शुरुआत की। बर्टेण्ड रसेल के विचार से "दकार्त एक दार्शनिक, गणित और विज्ञान पुरुष थे। दर्शनशास्त्र और गणित में उनका योगदान श्रेष्ठतम महत्त्व का है।"

बीजगणित के आधुनिक युग की पृष्ठभूमि तैयार करने में जिन गणितज्ञों की प्रमुख भूमिका रही, उनमें आयलर, लाग्रान्ज, गाउस, कोशी और आवेल हैं। पर इनमें भी आयलर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

18वीं शताब्दी को गणित के क्षेत्र में लियोनार्ड आयलर (1707-1783) युग कहा जाता है। गणित के साथ आयलर ने अनेक अन्य क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्य किए। बीजगणित, अंकगणित, ज्यामिति के अलावा उन्होंने यांत्रिकी, भौतिकी, खगोलशास्त्र से लेकर संगीत तक में उल्लेखनीय कार्य किए। आयलर ने "स्वर संगीत के नियमों की गणितीय विवेचना के साथ संयोजन और स्वर व्यवस्था का विश्लेषण तथा संगीत के स्वर-संयोजनों का ठोस गणितीय प्रारूप प्रस्तुत किया।"

लेकिन गणित और संगीत दो विपरीत ध्रुवों पर स्थिति के कारण आयलर के विचारों को न तो गणितज्ञों ने स्वीकृति दी और न ही संगीतज्ञों ने। महेश दुबे की इस पर टिप्पणी है कि "गणितज्ञों के लिए वे संगीतात्मक प्रचुरता के कारण बौद्धिल थे, तो संगीतज्ञों के लिए अपनी गणितीयता के कारण जटिल।"

आधुनिक काल के बीजगणितज्ञों में सोफस ली (1842-1899) तथा एम्मी नोएवेर (1882-1935) भी अत्यन्त महत्वपूर्ण नाम हैं। ली के कार्यों से बीजगणित के फलक का विस्तार हुआ। एम्मी नोएवेर को आइन्स्टाइन ने 'बीसवीं शताब्दी का एक श्रेष्ठ गणितज्ञ माना था।

लाग्रान्ज एक ऐसे गणितज्ञ थे, जो यह मानते थे कि गणित के ज्ञान को जनसाधारण तक पहुँचाना हमारा उद्देश्य होना चाहिए। उनका कहना था कि "यदि एक गणितज्ञ आम आदमी को अपनी बात नहीं समझा सकता तो इसका अर्थ है कि उसने अपने ही विषय को ठीक से नहीं समझा है।"

आधुनिक युग के आन्ड्रेवायल (1906-1998) ने बीजगणित, ज्यामिति, गणितीय विश्लेषण और गणित के इतिहास जैसे क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य करते हुए छान्दोग्य उपनिषद्, महाभारत और मेघदूत का भी अध्ययन किया। उनकी गहरी रुचि का ग्रन्थ भगवद्गीता था। जब वे फिनलैण्ड के बन्दी के तौर पर स्वीडन, इंग्लैण्ड, फ्रांस के जेलों में कैदी थे तो गीता ने उन्हें मानसिक बल दिया और आत्मविश्लेषण की शक्ति दी। महात्मा गाँधी के नमक सत्याग्रह और दाण्डी मार्च के समय वे भारत में ही थे। वे महात्मा गाँधी से बहुत अधिक प्रभावित थे। महात्मा से वे मिले भी थे।

इस पुस्तक को पढ़ते हुए मुझे लगातार यह लगता रहा कि बीजगणित जैसे विषय में भी इतनी रोचकता पैदा की जा सकती है कि उसे आप एक साहित्यिक कृति की तरह पढ़ सकें। बीजगणित में महारत हासिल करनेवालों के कार्यों और उनके अवदान को इतने सहज और आसान तरीके से प्रो. महेश दुबे इसलिए प्रस्तुत कर सके हैं, क्योंकि वे स्वयं गणित के एक सुलझे हुए और वरिष्ठ प्राध्यापक होने के साथ कवि-हृदय भी हैं। मेरा विश्वास है कि बीजगणित में रुचि रखनेवालों के लिए यह पुस्तक अपनी अनिवार्यता सिद्ध करने में सफल होगी।

स्थितिगत परिवर्तन की माँग करती शीतांशु की कविताएँ*

सरजू प्रसाद मिश्र**

समीक्षकों के दो वर्ग किए जा सकते हैं एक, वे जो काव्य-साधना करते हैं या साहित्य की विविध विधाओं में सृजनरत रहते हैं और क्रमशः समीक्षा की ओर बढ़ जाते हैं, दूसरे वे जो मात्र सहृदय पाठक होते हैं और समीक्षा के माध्यम से साहित्य संबंधी अपनी समझ-बूझ व्यक्त करने लगते हैं। प्रथम वर्ग के समीक्षक समीक्षा में अपनी गहरी छाप छोड़ जाते हैं। डॉ. शीतांशु शशिभूषण इस प्रथम वर्ग में ही परिगणित किए जाएँगे। उन्हें भावक आलोचक कहना अधिक उपयुक्त होगा। अपने कवि और समीक्षक दोनों रूपों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है :

“मैं छंदोबद्ध और छंद-मुक्त दोनों प्रकार की कविताएँ करता रहा हूँ। कवि से आलोचक के रूप में मेरा रूपांतरण तब हुआ जब मेरे सामने एक दूसरा संसार आ खड़ा हुआ। वह संसार साहित्य का संसार था। इसमें मेरे लिए एक ओर जीवन जगत का अनुभावन था और दूसरी ओर साहित्य का भावनी।” सृजन-कर्म से गहन जुड़ाव के कारण ही उनका समीक्षक साहित्य के अलक्षित अर्थ-सौंदर्य का उद्घाटन कर सका है। डॉ. शीतांशु ने अपनी ‘मनोवैज्ञानिक मिथकीय आलोचना’ वाली पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि ‘जिस तरह दृष्टिहीन आँखों को ऐनक या बाहरी प्रकाश से रोशनी नहीं मिल सकती, क्योंकि वह दृष्टिहीन है, उसी तरह केवल सिद्धांतों से अन्तर्गर्भी साभिप्रायता का उद्घाटन संभव नहीं है। वह साहित्य-विवेक से ही; भावकत्व से ही संभव हो पाता है।’ काव्य-साधना उनके भावकत्व को ऊर्जा प्रदान करती रही है।

*स्थितिगत हैं यात्राएँ, शीतांशु शशिभूषण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, दिल्ली; प्रथम संस्करण : 2012; मूल्य : 250.

**पता: 46, पठान ले आउट, रिंग रोड नागपुर 440022; मो.

‘स्थितिगत हैं यात्राएँ’ उनके कवि-रूप से हमारा साक्षात्कार कराता है। इस संग्रह के प्रारम्भ और अन्त में दो लंबी कविताएँ हैं, जिनका संबंध क्रमशः पंजाब और अमृतसर से है और जो कवि की संवेदनशीलता एवं वैचारिकता दोनों को अभिव्यक्त करती हैं। संग्रह की शेष कविताओं में आधुनिकता के प्रसार के नाम पर मूल्यहीन अनैतिक राजनीति द्वारा निर्मित भ्रष्टाचार की उस गगनचुंबी मीनार का दृश्यांकन है, जिसका विरोध करनेवाले भुनगे बनकर रह गए हैं। यहाँ हम कवि से पूर्णतः सहमत हैं कि इस संकलन की अधिकांश कविताएँ अपनी व्यंजना में स्थितिगत परिवर्तन की माँग करती हैं।’ जिस गाँव से चलकर डॉ. शीतांशु अमृतसर जैसे महान नगर में पहुँचे हैं, उसके कायाकल्प पर भी उन्होंने हार्दिक वेदना व्यक्त की है। यह भावना साधारणीकृत होकर पाठकों के हृदय को छू लेती है। स्वार्थी नेताओं का कुर्सी-प्रेम प्रजातंत्र की जड़ों को खोखला कर रहा है। शीतांशु जी का कवि इस घृणित प्रवृत्ति पर व्यंग्य का तीखा प्रहार करता है

‘ये ‘ह्यूमन जेनेटिक्स’ का
ऐसा ‘प्लान्ट’ लगाएँगे
जहाँ ‘रिसर्च’ पूरा कर ‘सायंटिस्ट’
माँ के गर्भ से ही बच्चे को
कुर्सी के साथ लाएँगे!’

काव्य-संग्रह का शीर्षक जिस पर आधारित है, उस लंबी कविता में आतंकवाद और उग्रवादी गतिविधियों के हिंसक डरावने अंधकार में डूबे पंजाब के अपने-आप में सिमटे जन-जीवन का चित्रण है। यात्राओं का स्थगन सभी मानवी संबंधों एवं प्रगति कार्य चेतना के स्थगन का पर्याय है। कवि संतों की उदार मानवतावादी वाणी में निहित उपदेशों का स्मरण करते हुए ठस हुई संवेदनाओं को जगाते हुए कहता है

‘अब भी/देख सके तो देख’/पिछले
कई महीनों से/कई वर्षों से/फूल नहीं
खिले पंजाब में!/खुशबुएँ नहीं उड़ीं!/
तितलियों ने/अपने पंख नहीं खोले!/
नथुनों से गुजरकर/फेफड़ों में/शीतलता
का संचार करनेवाली/हवा नहीं सरसराई/
रंगों में/मस्ती के ज्वार को/अँगड़ा देनेवाली/
बैसाखी भी/इस बार नहीं आई!’

कवि राजनीति के सौदागरों से अपील करता है कि पंजाब की नई पीढ़ी के मन-मस्तिष्क में घृणा और विद्वेष के विष को फैलने से रोका जाए। कविता का अन्त आशामय मंगलकामना से होता है

‘उनकी बाहरी/और भीतरी यात्राएँ/कभी
स्थगित न हों/बन्द न हों/और उनकी
आत्मा को/प्रकाशित करनेवाले/दीप की
रोशनी/कभी मंद न हो।’

‘आईना’ शीर्षक कविताएँ आत्मसाक्षात्कार, आत्मनिरीक्षण, आत्ममंथन, आत्मसुधार की महत्ता से संबंधित हैं। दूसरों के दोषों को रेखांकित करने के बदले हमें अपनी समीक्षा करनी चाहिए। आईना काल-चेतना के रूप में दूध का दूध और पानी का पानी कर देता है। उससे कुछ छिपा नहीं रहता। वह तटस्थ होकर निर्णय देता है। ‘सनातन लोकपाल’ कविता लुधियाना के सिक्ख नवजवान अर्जुन सिंह को आदरांजलि अर्पित करती है, जिसने आतंकवादियों से एक हिन्दू को बचाने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाकर ‘मनुक्खी धर्म’ की रक्षा की। हिंसा और आतंक से भयभीत लोग सत्य की पक्षधरता से कतराते हैं, लेकिन अर्जुन सिंह ने ‘महाभारत’ के विकर्ण की तरह सत्य के मुख से आवरण हटाने का साहस दिखाया था। कौरव कुल द्वारा द्रौपदी को अपमानित किए जाते देख विकर्ण मौन न रह सका। अपने बंधुओं के अनैतिक आचरण का प्रतिरोध कर वह नारी स्वातन्त्र्य आंदोलन का शलाका पुरुष बन गया। कवि ने दोनों निर्भीक वीरों को ‘सनातन लोकपाल’ की उपाधि प्रदान की है।

महाकवि जयशंकर प्रसाद ने ‘सत्य’ को ‘मेधा के क्रीड़ा पिंजर का पाला हुआ सुआ’ कहा है। सत्य का साक्षात्कार करना आसान नहीं है। असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिए जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाए जाते हैं। वर्तमान में सत्य की स्थिति की विडंबना को ‘महाभारत’ के माध्यम से व्यक्त किया गया है

‘सत्य तो/युधिष्ठिर के/इंद्रप्रस्थीय
राजभवन का/पारदर्शी फर्श है।/और
हम सब/धृतराष्ट्रीय अंधे स्वार्थ की संताने।
तभी सत्य के निष्कलुष समतल को/
हमारी दुर्योधनी आँखें/ठीक-ठीक/
नहीं देख पाती।’

संग्रह की ‘सत्य’ शीर्षक कविता

कविताएँ सत्य के ताप की असहनीयता बयान करती हैं। इस तेज से हमारी आँखें चौंधियाने लगती हैं। उससे बचने के लिए हम असत्य का काला चश्मा लगाते हैं। सत्य रूपी पतझड़ से होकर आत्मिक वसंत को अनुभूत किया जा सकता है।

‘वृद्धता का सत्य’ कविता में वृद्ध सिंह और वृद्ध मेष को आमने-सामने रखा गया है। सिंहासन पर विराजमान सिंहों के पास प्रभुता और छद्म का सत्य है। वृद्ध मेषों के पास विवशता का सत्य है। यह शासक और शासित के बीच का अन्तर है।

स्वार्थलिप्त राजनीतिकों एवं उन्हें सहन करते मतदाताओं का व्यंग्यात्मक चित्रण बहुत प्रभावशाली है।

‘पिता’ शीर्षक काव्य-शृंखला में आधुनिकता की आँधी में पिता-पुत्र के टूटकर गिरते रिश्तों एवं पारिवारिक मूल्यों के विघटन का चित्रण है। ‘रिटायर्ड’ पिता को अवकाश नहीं। वह घर की नौकरी कर रहा है। शाम को सब्जियाँ लाने के लिए स्कूटर निकालना चाहता है तो उसे पैदल ‘वाक’ करने की ‘बहुमूल्य’ सलाह दी जाती है। वह बेटे बहू के सामने निरुत्तर है। पिता और माँ संबंधी कविताओं में कवि अपने बचपन की स्मृतियों में डुबकी लगाकर, उनसे प्राप्त स्नेह दुलार की प्रगाढ़ता को पुनः अनुभूत करता है। कहीं-कहीं वह अपने बच्चों के आचरण के बारे में प्रश्न कर उठता है

‘पर क्या नौक्सविल में/रहनेवाले मेरे डॉक्टर पुत्र को भी/अपनी माँ के बारे में/कभी ऐसा अहसास होता है?’

पीढ़ियों के बीच का अन्तराल यहाँ स्पष्ट है। इसका एक ज्वलंत उदाहरण ‘माँ (3) में है

“भाई के बेटे से यह सुनते ही/कि ‘दादी माँ,
तुम यहाँ कब तक रहोगी?
यह तो मेरी माँ का घर है?
तुम पापा के साथ अपने घर कब जाओगी?’
“वह फूलों लदी माँ झड़ गई?”

अपने छोटे बेटे के यहाँ माँ दोगम दर्जे की पारिवारिक सदस्य है। इसे आधुनिकतावादी आर्थिक प्रश्नों के दबाव के रूप में व्याख्यायित करेंगे।

‘बावरी मस्जिद’ और ‘कारगिल’ से संबंधित कविताएँ समकालीन घटनाओं और प्रश्नों पर कवि की मौलिक चिन्तन की परिचायक हैं। शीतांशु जी ने मुसलमानों के बावरी संप्रदाय की रामभक्त कवयित्री का इस मस्जिद से संबंध जोड़ा है। रामभक्त तुलसीदास ने भिक्षाटन और मस्जिद में सोने की बात कही है। इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो संपूर्ण दृश्य बदल जाता है

‘सत्य यह है कि/वह श्रीराम का स्पंदित
हृदय है/और उसमें जीवन्त है/भक्तिगान
गानेवाली वह बावरी : श्रीराम की मीरा।’

कवि की कलम के जादू से मस्जिद खुद बोल उठती है

‘मैं तुम्हारी सामासिक संस्कृति की/मध्यकालीन प्रतीक हूँ।/ मैं भारत की बावरी मस्जिद हूँ/मुझे कुस्तुनतुनिया की मस्जिद मत बनाओ!’

कारगिल संबंधी कविताओं में कवि ने उस ऐतिहासिक सत्य का स्मरण कराया है कि अपनी आंतरिक फूट से ही हम विदेशियों से पादाक्रान्त हुए हैं। बाहरी कारगिल

को हमने जीत लिया है, लेकिन मानस में स्थित दूसरे कारगिल से हम पराजित होते जाते हैं। यह कारगिल धर्म, जाति, पद-मद प्रभुता एवं मुद्रा लोभ आदि से निर्मित है। इस कारगिल पर विजय-प्राप्ति से ही राष्ट्र-सुरक्षा संभव हो सकती है।

हर पुराना प्रख्यात शहर अपना इतिहास, संस्कृति तथा तीज-त्यौहार लिए रहता है। स्वर्ण मंदिर और जलियाँवाला बाग के लिए प्रख्यात अमृतसर डॉ. शीतांशु को जनम-जनम का सखा और बंधु लगता है तो जरूर उसमें कोई करिश्माई चीज होगी। संग्रह की अंतिम कविता में कवि ने इस शहर के प्रति अपना प्रेम, श्रद्धा एवं गहन आंतरिक लगाव व्यक्त किया है

*'तुम्हारी माटी के साथ/निश्चय ही/मेरी
आत्मा का संबंध है/किसी पूर्वजन्म का/
रागात्मक अनुबंध है/इसीलिए/कोई स्नेह-छंद
गूँजता है,/ जो तुम्हें छोड़कर/मुझे कहीं
बाहर/ नहीं जाने देता है।'*

अभिव्यक्ति पक्ष की दृष्टि से देखें तो ये कविताएँ कहीं भी कमतर नहीं हैं। आवश्यक होने पर तुकों का प्रयोग किया गया है किंतु उनके अभाव में भी कविताएँ प्रभावान्विति में पीछे नहीं हैं। कहीं संस्कृत श्लोक की कोई पंक्ति है तो कहीं अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग, लेकिन भाव एवं विचारयुक्त काव्यधारा में कोई अवरोध नहीं आने पाता। 'केवल सूरज/अपना स्टेनगन' सँभाले/चल रहा है' अद्भुत प्रयोग है। 'दुर्योधनी आँखें' जैसे विशेषण सहज और सार्थक होते हुए भी गहन प्रतिभा के प्रयोग हैं। और मेरी आँखों आगे/आयने के मंच की कुर्सी/आ जाती है।' जैसी पंक्तियों उनकी गहन अध्ययनशीलता का प्रमाण देती हैं। अज्ञेय की पुस्तकों के नाम कई बार उनकी कविताओं में आए हैं। इन कविताओं की एक अन्य विशेषता है 'कहन' शैली में लिखा जाना, जिससे पाठक इनसे सहज रूप से जुड़ जाता है।

'स्थगित हैं यात्राएँ' संग्रह अपने समय की थाह लेता हुआ जहाँ एक ओर भ्रष्ट राजनीति पर तीखा प्रहार करता है, वहीं दूसरी ओर आधुनिकता के आवरण में पारिवारिक स्नेहपूर्ण रिश्तों के संकुचन पर गहरी चिन्ता व्यक्त करता है। यह संग्रह अपने समय का लोकपाल है।

समीक्षा

कहानियों में प्रेमचंद*

श्रीभगवान सिंह**

हिन्दी के कथा-सम्राट् के रूप में मान्य प्रेमचंद का रचना-संसार उनके द्वारा लिखित तीन सौ एक कहानियों (प्रेमचंद विशेषज्ञ डॉ. कमल किशोर गोयनका के अनुसार) एवं सत्रह उपन्यासों के साथ-साथ विविध विषयों पर लिखे अनेक निबंधों तक फैला हुआ है। किन्तु हिन्दी आलोचना की तंगनजरी यह रही कि उसने उनकी मात्र पाँच-छः कहानियों एवं एकाध उपन्यासों को उनके मूल्यांकन का आधार बना लिया। प्रगति का मार्ग प्रशस्त करने का दम भरनेवाली प्रगतिवादी आलोचना ने उन्हें यथार्थवादी सिद्ध करने के लिए 'पूस की रात', 'सवा सेर गेहूँ', 'सद्गति', ठाकुर का कुआँ', 'कफन' जैसी पाँच-छः कहानियों पर, तो उन्हें मार्क्सवादी सिद्ध करने के लिए केवल अंतिम उपन्यास 'गोदान' पर सारा ध्यान केन्द्रित कर दिया। अब दलित-विमर्श के नाम पर उभरी आलोचना उनके अन्य उपन्यास 'रंगभूमि' और 'कफन' कहानी को केन्द्र में रखकर उन्हें दलित विरोधी सिद्ध करने की मुहिम में पिल पड़ी है। स्पष्टतः प्रगतिवाद और दलितवाद दोनों की कोख से उत्पन्न आलोचना ने प्रेमचंद की यथार्थवादी, मार्क्सवादी या फिर दलित विरोधी छवि गढ़ने का जो सिलसिला चला रखा है, उसे एक रचनाकार के समस्त कृतित्व में रूपायित सत्य को छिपाने, विकृत करने वाला दुष्कर्म ही कहा जा सकता है।

वस्तुतः किसी भी रचनाकार को सही-सही समझने के लिए उसके समग्र रचना-संसार से गुजरना आवश्यक होता है। एक-दो रचनाओं या कुछेक पंक्तियों के आधार पर किया गया मूल्यांकन उस कहानी को चरितार्थ करता है जिसमें छः अंधे

* प्रेमचंद की कहानियों का कालक्रमानुसार अध्ययन : लेखक - डॉ. कमल किशोर गोयनका, प्र. - नटराज प्रकाशन, ए 98 अशोक बिहार, फेज प्रथम, दिल्ली 110052; मूल्य - : 230; संस्करण - 2012

** श्रीभगवान सिंह : 102, अम्बुज टॉवर, हनुमान पथ, तिलकामांझी कालोनी, भागलपुर, बिहार-812001; मो - 09801055395

व्यक्ति हाथी के अलग-अलग अंगों का स्पर्श कर उसे रस्सी, सर्प, खम्भा जैसा होने की संज्ञा देते हैं। साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने के लिए विख्यात रहे फ्रांसीसी विचारक लूसिए गोल्डमान ने इसलिए साहित्यिक कृति के सम्यक मूल्यांकन के लिए 'समग्रता' (Totality) की अवधारणा का प्रतिपादन किया। 'समग्रता' की अवहेलना करने वाला आलोचक कृति के संबंध में वैसा ही मंतव्य देता है जैसा अंधे व्यक्तियों ने हाथी के एक-एक अंग के आधार पर मंतव्य दिया। हिन्दी में कवि तुलसीदास और कथाकार प्रेमचंद के साथ आलोचकों का ऐसा ही वर्ताव होता रहा है। सौभाग्य से प्रेमचंद को डॉ. कमल किशोर गोयनका के रूप में एक ऐसे समर्थ आलोचक मिल गये हैं जो विगत कई वर्षों से प्रेमचंद के समग्र साहित्य का मंथन करते हुए उनके विराट रचना-संसार में रूपायित विविध सत्तों एवं तथ्यों को सामने लाने के अनवरत प्रयास में लगे हुए हैं। आलोचना के लिए आधी शताब्दी अर्पित करने वाले डॉ. गोयनका अबतक 'प्रेमचंद' के उपन्यासों का शिल्प-विधान', 'प्रेमचंद विश्वकोश' (खंड 2), 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य (खंड 2)', 'प्रेमचंद : चित्रात्मक जीवनी', 'प्रेमचंद : कहानी रचनावली (खंड 6)', 'प्रेमचंद : अनछुए प्रसंग', 'प्रेमचंद : वाद, प्रतिवाद और संवाद' जैसी पुस्तकें लिख एवं संपादित कर 'प्रेमचंद-विशेषज्ञ होने की पात्रता प्राप्त कर चुके हैं।

प्रेमचंद संबंधी लेखन की एक शानदार लड़ी के रूप में आई है डॉ. गोयनका की सद्यः प्रकाशित कृति *प्रेमचंद की कहानियों का कालक्रमानुसार अध्ययन*। नटराज प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित इस पुस्तक का कलेवर 760 पृष्ठों का है जो अपने आप में विशद गहन अध्ययन-विश्लेषण का प्रमाण है। श्री गोयनका ने प्रेमचंद द्वारा लिखी 301 कहानियों की सूची दी है और विषय-वस्तु के धरातल पर हरेक कहानी का विवेचन किया है। निस्संदेह यह अत्यन्त श्रम साध्य कार्य रहा होगा जिसका परिणाम है कि समस्त कहानियों से परिचित होने के बाद प्रेमचंद के संबंध में स्थापित कई भ्रांत धारणाओं से पाठक को छुटकारा मिलता है। इस तरह के कठिन श्रम साध्य कार्य के लिए श्री गोयनका को हिन्दी आलोचना के जिस परिदृश्य ने विवश किया वह उन्हीं के शब्दों में देखने लायक है - "प्रेमचंद की कहानियों के किसी भी प्रकार के अध्ययन और विवेचन का आधार उनकी संपूर्ण हिन्दी-उर्दू कहानियों को कालक्रमानुसार रख कर ही हो सकता है। हम इसी वैज्ञानिक सिद्धान्त से प्रेमचंद की कहानियों के प्रकाशन-काल के क्रम के बिना किये गये अध्ययन और उससे उत्पन्न अवैज्ञानिक निष्कर्षों से पूर्ण आलोचना की परम्परा को रोक सकते हैं। इस अवैज्ञानिक आलोचनात्मक प्रवृत्ति ने प्रेमचंद की कहानियों की तीन-तेरह वाली आलोचना को जन्म दिया, जिसके अन्तर्गत उनकी चर्चित, बहुचर्चित एवं चुनी हुई कहानियों को ही आलोचना-कर्म का आधार बनाया गया। इस आलोचना-पद्धति को हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों ने

शुरू किया और अपने राजनीतिक दर्शन के प्रचार-प्रसार के लिए उसका खुलकर दुरुपयोग किया। मार्क्सवादियों की इस तीन-तेरह वाली आलोचना ने प्रेमचंद को मार्क्सवादी बनाने में मदद तो की, परन्तु वे उनके कहानीकार की पूरी तस्वीर प्रस्तुत नहीं कर सके। इस तीन-तेरह वाली आलोचना-पद्धति ने एक बड़ी हानि यह भी की कि उनकी बहुसंख्यक कहानियों में मनुष्य के उत्कर्ष एवं उदात्तीकरण की जो संजीवनी शक्ति थी, उससे भी पाठकों को वंचित कर दिया गया। प्रेमचंद की कहानियों की इस दमनकारी आलोचना ने बहुत ही सीमित रूप में उनकी कहानियों के संसार को रखा और सुधी पाठकों को इसके लिए विवश किया कि प्रेमचंद के बारे में उतना ही जानें, जितना वे ठीक समझते हैं।" (पृ 46-47)

उपरोक्त वक्तव्य से साफ है कि प्रेमचंद के विस्तृत कहानी-संसार को चंद कहानियों तक सीमित करने वाली चयनवादी आलोचना से कहानीकार प्रेमचंद के संबंध में उत्पन्न संकीर्णता एवं इकहरापन को दुरुस्त करने के ध्येय से डॉ. गोयनका ने उनकी समस्त कहानियों का कालक्रमानुसार अध्ययन आवश्यक समझा जो इस पुस्तक के रूप में हमारे सामने है। यह पुस्तक कुल आठ अध्यायों में विन्यस्त है। अध्याय एक है 'प्रेमचंद : कहानीकार का इतिहास' जिसके अन्तर्गत प्रेमचंद पूर्व की कहानी की स्थिति का विवेचन है। अध्याय दो में उनकी तीन सौ एक कहानियों की कालक्रमानुसार सूची है, तो अध्याय तीन में प्रेमचंद के कहानी दर्शन का विशद विवेचन है। अध्याय चार, पाँच, छह तथा सात में प्रेमचंद की 1908 से लेकर 1936 तक लिखी कहानियों का विषय-वस्तु-भाव, विचार, संवेदना आदि का पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय-परिपेक्ष्य में विस्तार से विवेचन किया गया है।

कहानियों का विवेचन करने के पूर्व डॉ. गोयनका पूर्व पीठिका के रूप में अध्याय तीन में प्रेमचंद के कहानी-दर्शन, जिसके अन्तर्गत उनका समग्र जीवन-दर्शन समाहित है, का बहुत विस्तार एवं सूक्ष्मता से विश्लेषण करते हुए उनके संबंध में स्थापित कई भ्रामक, सतही, धारणाओं को निर्मूल करते हैं। मसलन प्रेमचंद के संबंध में यथार्थवाद की खूब चर्चा की जाती है, लेकिन यह नहीं बताया जाता कि यथार्थवाद से प्रेमचंद का आशय क्या था? केवल विद्रुपता, भूख, शोषण, विषमता आदि को यथार्थपरक जीवन-दृष्टि मानकर प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि को इसी के आस-पास सीमित कर दिया गया है। लेकिन गोयनका प्रेमचंद के लेखों से उनके मंतव्यों का हवाला देते प्रेमचंद के यथार्थवाद के स्वरूप को स्पष्ट कर देते हैं। वे इस पुस्तक की पृष्ठ संख्या 209 पर बताते हैं - "प्रेमचंद ने यथार्थवाद की सीमाएँ खींच कर उसे नग्नता एवं वीभत्सता से दूर रखते हुए भारत की पुरातन आदर्शवादी चेतना से मंडित किया। उन्होंने न तो नग्न यथार्थवाद का समर्थन किया और न एकमात्र यथार्थ को ही कहानी, उपन्यास का आधारभूत तत्व माना। उन्होंने वैसा यह स्वीकार किया कि नवयुवक

लेखक बुराइयों का नग्न चित्र खींचने में कला की कृतकार्यता समझते हैं और सुधार के जोश में विध्वंस भी करने लगते हैं, लेकिन ऐसा यथार्थवाद उन्हें प्रिय नहीं है क्योंकि उनका मत है कि कहानी (साहित्य) विध्वंस नहीं निर्माण करती है और वैसे भी विध्वंस से निर्माण संभव नहीं है। साहित्य (कहानी) वही है जो मर्यादाओं का पालन और मानव-चरित्र की उज्वलताएँ दिखाए। प्रेमचंद यथार्थवाद को जीवन के अंधकार तक सीमित नहीं करते। अतः वे कहानी और उपन्यास के लिए अंधकार रूपी यथार्थ से प्रकाश रूपी आदर्शवाद की ओर चलने का आह्वान करते हैं।”

प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि के संबंध में यह प्रवाद भी प्रचलित कर रखा गया है कि आरम्भिक लेखन में तो वे स्नेह, सहानुभूति, दया, सच्चाई, सौजन्य जैसे आदर्शवादी मूल्यों के प्रति आस्थावान रहे, लेकिन बाद के लेखन में उनका इन मूल्यों से मोहभंग होता गया। इसके सत्यापन में ये लोग प्रेमचंद द्वारा लिखे ‘महाजनी सभ्यता’ वाले लेख की बहुत चर्चा करते हैं। लेकिन इसी लेख के आधार पर श्री गोयनका प्रेमचंद की यह तस्वीर प्रस्तुत करते हैं - “महाजनी सभ्यता लेख में वे विस्तार से पश्चिम की महाजनी सभ्यता की बुराइयों की चर्चा करते हैं, लेकिन इसमें भी वे ‘मनुष्यता, मित्रता, स्नेह-सहानुभूति, मानवीय-आध्यात्मिक और सामाजिक नेह-नाते’, ‘मनुष्यता-आध्यात्मिकता-उच्चता-सौंदर्य-बोध’ तथा दया और स्नेह, सच्चाई और सौजन्य’ जैसे उच्च मानवीय गुणों की चिंता करते हैं और मानते हैं कि महाजनी सभ्यता इन्हें नष्ट कर रही है, जबकि वे इनकी रक्षा करना चाहते हैं।” (पृ 200) इसी क्रम में डॉ गोयनका यह भी साफ कर देते हैं कि प्रेमचंद द्वारा रूस की शासन-व्यवस्था का समर्थन करने का मतलब यह हर्गिज नहीं कि उन्होंने कम्युनिज्म को स्वीकार कर लिया था, क्योंकि “वे कम्युनिस्टों के हिंसावाद, राज्य-सत्ता, व्यक्ति की स्वतंत्रता के दमन, वर्ग-संघर्ष इत्यादि को साहित्य एवं साहित्यकार के प्रयोजनों में शामिल नहीं करते और न कोई कहानी या उपन्यास तथा किसी एक पात्र को वे इन कम्युनिस्ट नीतियों का अनुयायी बनाते तथा उनके लिए संघर्षशील नहीं दिखाते।” (उप.) ऐसे ही तथ्यों के आलोक में गोयनका प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि में भारतीय मनुष्य और भारतीय समाज को भारत के परंपरागत मानवीय मूल्यों से सम्पन्न करनेवाले प्रयत्नों की प्रधानता रेखांकित करते हैं।

प्रेमचंद की जीवन दृष्टि के संबंध में ऐसे ही अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों को उजागर करने के बाद डा. गोयनका बाद के अध्यायों में उनकी हिन्दी-उर्दू में लिखित तमाम 301 कहानियों का कालक्रमानुसार अध्ययन एवं विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। यह विश्लेषण इतना विस्तार और गहराई लिये हुए है कि उसकी समस्त खूबियों को इस छोटे से लेख में टाँक पाना मुमकिन नहीं, फिर भी संक्षेप में इस कालक्रमानुसारी अध्ययन की कुछ खास उपलब्धियों को रेखांकित करना मार्क्सवादी साँचे में प्रेमचंद की छवि गढ़नेवाले आलोचकों के ज्ञानवर्धन के लिए आवश्यक है।

डा. गोयनका ने पुस्तक के चार, पाँच, छह और सात यानि चार अध्यायों में प्रेमचंद के कहानी संग्रह “सोजेवतन” (1908) के प्रकाशन से लेकर 1936 में ‘कफन’ कहानी के प्रकाशन तक की समग्र कहानियों का अध्ययन-विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उससे कहानीकार प्रेमचंद के संबंध में मार्क्सवादी आलोचना द्वारा स्थापित कई भ्रान्त धारणाओं का खंडन होता है। मसलन, आलोचना की वर्चस्ववादी धारा (प्रगतिवाद) ने यह धारणा प्रचलित कर रखी है कि प्रेमचंद ने पहले ‘सोजे वतन’ (1908) की कहानियों में देशप्रेम, राष्ट्रीय भावना को प्रमुखता दी, किन्तु बाद में वे सामाजिक यथार्थ की ओर ऐसे मुड़े कि राष्ट्रवादी चेतना उनकी परवर्ती कहानियों में गौण हो गई। लेकिन डॉ गोयनका 1920 से महात्मा गाँधी के नेतृत्व में शुरू हुए स्वाधीनता आंदोलन से सम्बद्ध कई कहानियों का विश्लेषण करते हुए साबित करते हैं कि भारत की स्वाधीनता, स्वराज्य की चिंता प्रेमचंद में हमेशा बनी रही जो उनकी उस दौर में लिखीं कई कहानियों में प्रकट है। इस संदर्भ में वे प्रेमचंद द्वारा लिखित सत्याग्रह (1923) ‘मैकू’ (1930), ‘आहुति’ (1930) ‘आखिरी तोहफा’ (1931), ‘होली का उपहार’ (1931) ‘तावान’ (1931) जैसी कहानियों का विश्लेषण करते हुए बताते हैं कि कैसे प्रेमचंद उन दिनों गाँधी द्वारा राष्ट्रीय चेतना के प्रसार एवं मजबूती हेतु चलाये जा रहे असहयोग, विदेशी सामानों का बहिष्कार, शराबबंदी जैसे रचनात्मक कार्यक्रमों को इन कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहे थे। इन कहानियों में स्पष्टतः प्रेमचंद के राष्ट्र प्रेम के साथ-साथ भारत की स्वाधीनता के लिए व्याकुलता तथा गाँधी जी के नेतृत्व में गहरा विश्वास परिलक्षित होता है। मतलब कि प्रेमचंद का देश प्रेम 1908 में प्रकाशित सोजे वतन की कहानियों तक ही सीमित नहीं रह गया, बल्कि गाँधी जी के नेतृत्व में चल रहे राष्ट्रीय आंदोलन के समानान्तर वह उनकी कहानियों में परवान चढ़ता गया। लेकिन प्रगतिवादी आलोचना ने इन कहानियों की नोटिस तक लेना आवश्यक नहीं समझा, क्योंकि इससे प्रेमचंद की गाँधी से वैचारिक समीपता सिद्ध होती। इस बेईमानी का खुलासा करते हुए डॉ. गोयनका दो टूक शब्दों में लिखते हैं “वामपंथी आलोचना ने सदैव यही चाहा है कि प्रेमचंद की वे कहानियाँ पाठ्यक्रम-आलोचना तथा लोक स्मृति से हटा दी जाय, जो भारत के परम्परागत पारिवारिक जीवन और उसके मूल्यों की स्थापना करती हों, जो देशप्रेम एवं सांस्कृतिक-सामाजिक-आर्थिक-धार्मिक सुधार की प्रवृत्ति को जागृत करने वाली हों, जो पाठक का उत्कर्ष करती हों और जो हमारी भारतीय आत्मा की रक्षा के लिए लिखीं गई हों। महात्मा गाँधी के स्वाधीनता आंदोलन और उनके नैतिक मूल्यों पर लिखीं गई कहानियों का तो ये नाम भी नहीं लेना चाहते, क्योंकि लेनिन-स्टालिन के कम्युनिस्ट रूस ने गाँधी की सदैव भर्त्सना की।” (पृ. 47)

इधर कुछेक वर्षों से वामपंथी आलोचना की एक उग्र धारा ने यह अंधेर मचा रखा है कि प्रेमचंद की गाँधी के बजाय भगत सिंह जैसे क्रांतिकारी से अधिक वैचारिक

निकटता थी और वे भगत सिंह के लगभग अनुयायी जैसे बन गये थे। अब इन्हें कौन बतावे कि जिस वर्ष 1907 में प्रेमचंद ने देश के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले देशभक्त के लहू को अनमोल मानते हुए 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' नाम से कहानी लिखी उस वर्ष भगत सिंह का जन्म ही हुआ। फिर युवा भगत सिंह का संबंध जिस 'हिन्दुस्तान सोसलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी' से रहा, उस संगठन से प्रेमचंद का कोई रिश्ता नहीं रहा। डॉ. गोयनका द्वारा इस पुस्तक में प्रस्तुत उनकी समस्त कहानियों को देखने से साफ पता चलता है कि उनकी लिखी 301 कहानियों में एक कहानी भी ऐसी नहीं जिसमें भगत सिंह की विचारधारा का कोई प्रतिनिधि पात्र हो जिसे प्रेमचंद ने महिमामंडित किया हो। निस्संदेह गोयनका का यह तथ्यगत विश्लेषण कहानीकार प्रेमचंद के संबंध में वामपंथी आलोचकों द्वारा निरंतर फैलायी जा रही कई मनगढ़न्त बातों को निर्मूल करता है।

कहानीकार प्रेमचंद के साथ वामपंथी आलोचना ने एक और बड़ा घपला यह किया कि 1920 के पूर्व उनके द्वारा लिखी गई 'बड़े घर की बेटी' (1910), 'नमक का दारोगा' (1914), 'पंच-परमेश्वर' (1916) जैसी कहानियों को हृदय-परिवर्तन के आदर्शवादी खांते में खतिया कर उनकी परवर्ती कहानियों को हृदय परिवर्तन का निषेध करने वाली यथार्थवादी श्रेणी में रखने का एक सपाट, सरलीकृत फार्मूला चला दिया। लेकिन डॉ. गोयनका अपने विस्मृत अध्ययन से यह तथ्य उजागर करते हैं कि 1920 के बाद भी प्रेमचंद ने ऐसी कई कहानियों की रचना की है जिनमें हृदय-परिवर्तन की घटनाएँ विद्यमान हैं। 'मंत्र' (1928) 'मुक्तिमार्ग' (1924) 'अलगयोझा' (1924) 'घर जमाई' (1929) 'घासवाली' (1929) ऐसी उल्लेखनीय कहानियाँ हैं जिसमें पात्रों का अन्ततः हृदय-परिवर्तन होता है। 'मंत्र' कहानी में डॉ. चड्ढा बूढ़े भगत के बेटे का इलाज करने से इन्कार कर देता है क्योंकि वह समय उसके टेनिस खेलने का है। नतीजतन भगत का बेटा इलाज के अभाव में मर जाता है और वह डॉ. चड्ढा के प्रति घृणा, क्रोध का भाव लेकर घर लौट आता है। लेकिन जब कुछ दिनों बाद चड्ढा के बेटे को सर्प डस लेता है, तो उसकी खबर सुनकर विष उतारने का इल्म जानने वाले भगत में द्वन्द्वों का तूफान उठ खड़ा होता है। कभी प्रतिशोध के वशीभूत हो वह चड्ढा के बेटे को मर जाते हुए देखना चाहता है, लेकिन अन्ततः उसके अन्दर मनुष्यता की अमृत धारा वेगवती हो उठती है और वह रात में चुपके से घर से निकल कर चड्ढा के यहाँ जाता है और मंत्र से उसके बेटे के शरीर को विष मुक्त कर नया जीवन प्रदान करता है। इसी तरह 'अलगयोझा' में रघु, उसकी विमाता पन्ना और उसकी पत्नी मूलिया में अच्छे, बुरे, स्वार्थ-परमार्थ का खूब द्वन्द्व चलता है, लेकिन अन्ततः पन्ना रघु की विधवा-बहू मूलिया से अपने बेटे केदार का विवाह कर एक नया घर बसाने में कामयाब होती है। 'मुक्तिमार्ग' में भी झींगुर और बुद्ध दोनों एक दूसरे का अहित

करने के बाद अन्ततः एक दूसरे के सुख-दुख के साथी बन जाते हैं। 'घरवाली' में निम्न वर्ण की मूलिया ठाकुर चैन सिंह की रूप-लम्पटता को अपनी चारित्रिक दृढ़ता से सदाचार में परिवर्तित कर देती है। इस प्रकार डॉ. गोयनका ऐसी कहानियों के हवाले बखूबी यह सिद्ध कर जाते हैं कि मानव-हृदय में अच्छे-बुरे के द्वन्द्व के प्रति सजगता और उसमें अच्छे की विजय के प्रति गहरा विश्वास प्रेमचंद में कभी खत्म नहीं हुआ। लेकिन अब नाली-सफाई कर्मी की तरह आलोचक गण केवल बुरे को ही अपनी टोकरी में बटोरने लगे, तो इसमें बेचारे प्रेमचंद का क्या दोष? गोयनका की दृष्टि कचड़े में मिले हीरे-मोती की तलाश करती है और यही एक मर्मी आलोचक का काम होना भी चाहिए।

प्रसंगवश यह भी उल्लेखनीय है कि सामाजिक यथार्थ के कहानीकार के रूप में भी प्रेमचंद की इकहरी, एकांगी छवि बना दी गयी है। 'सवा सेर गेहूँ' (1924), 'पूस की रात' (1930), 'सद्गति' (1931), 'ठाकुर का कुआँ' (1932), 'दूध का दाम' (1934), 'कफन' (1936), जैसी चंद कहानियों का चयन कर उनके आधार पर प्रेमचंद की यह छवि बना दी गई कि उन्होंने समाज में व्याप्त सूदखोरी, शोषण, छुआछूत, जाति-पाँति आधारित घृणा आदि को ही सामाजिक यथार्थ के रूप में अभिव्यक्ति दी। लेकिन सच्चाई उनकी अन्य कहानियों के अध्ययन से, जैसा कि डॉ. गोयनका दिखाते हैं, यह उभरती है कि प्रेमचंद ने भारत के गाँवों, किसानों के बीच सदियों से पलते आ रहे परस्पर प्रेम, सहयोग, सौहार्द, आदि का सामाजिक, पारिवारिक संरचना को बनाये रखने में जो भूमिका रही, उसके महत्त्व को भी कम उजागर नहीं किया है। पूर्वोक्त कहानियों में सामाजिक-पारिवारिक जीवन की ऐसी ही सच्चाइयों की मनोरम झाँकी मिलती है। यही नहीं, प्रेमचंद ने 'दो कब्रें' (1930) जैसी भी कहानी लिखी जिसमें वे जुहरा नाम की वेश्या से कुलीन वर्गीय रनवीर सिंह का प्रेम एवं परिणय दोनों ही दिखाते हैं जो स्पष्टतः उस समय गाँधी जी द्वारा 'पतिताओं' के उद्धार के लिए चलायी जा रही मुहिम का प्रभाव दर्शाती है।

यों तो इस पुस्तक में प्रस्तुत अध्ययन-विश्लेषण की और भी बहुत सारी विशिष्टताएँ हैं उन सब का उल्लेख इस लघुकाय आलेख में संभव नहीं, फिर भी हमने जिन बातों की तरफ यहाँ संकेत किया उनसे साफ है कि कहानीकार के रूप में प्रेमचंद को एक खास किस्म के वैचारिक साँचे या एक रंग के सामाजिक यथार्थ के दायरे में सीमित करके नहीं रखा जा सकता। डॉ. गोयनका द्वारा प्रस्तुत विवेचन पर दृष्टिपात करने पर प्रेमचंद की जो मुकम्मल तस्वीर उभर कर सामने आती है, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है "वे विराट भारतीय जीवन के महागाथाकार हैं तथा उनकी कथा-सृष्टि में महाकाव्यीय चेतना है। वे भारत राष्ट्र एवं स्वराज्य, भारतीय विवेक एवं अस्मिता, भारतीय चेतना तथा भारतीयता के कथाकार हैं। प्रेमचंद कथाकार के रूप में वाल्मीकि,

व्यास, तुलसीदास, कबीर, भारतेन्दु हरिश्चंद्र तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी की परम्परा में आते हैं। ये देश के ऐसे राष्ट्रीय साहित्यकार हैं जिन्होंने उच्च कोटि के मानवीय जीवन-मूल्यों, आत्म-बोध, स्वत्व तथा अस्मिता की प्रतिष्ठा और रक्षा करके भारतीयता को स्वरूप प्रदान करके उसे भारत की आत्मा के रूप में सदैव के लिए प्रतिष्ठित कर दिया। प्रेमचंद का कहानीकार इसी भारतीयता का अन्वेषक, उद्घोषक तथा प्रस्थापक है। प्रेमचंद की कहानी यात्रा में प्रमुखतः राष्ट्रीय-सांस्कृतिक नवजागरण, गाँधीवाद, कभी-कभी मार्क्स का साम्यवाद, भारत का अद्वैत दर्शन इत्यादि उनकी इस यात्रा को अपनी-अपनी दर्शन-दृष्टि के अनुसार आलोकित करते हैं; परन्तु प्रेमचंद सभी को अपने भारतीय भाव एवं विवेक से देखते और ग्रहण करते हैं और देश-संस्कृति-मानवता के अनुकूल तत्वों को ग्रहण करके अपनी भारतीयता में संग्रथित-संश्लिष्ट करके पराधीन भारत को मुक्ति का एक संदेश तथा एक स्वप्न देते हैं।” (इस पुस्तक की भूमिका से)

निस्संदेह डॉ. गोयनका की यह पुस्तक कहानीकार प्रेमचंद की इकहरी, सपाट, सतही तस्वीर को विस्थापित करते हुए उनके विविध राजनीतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक आयामों से निर्मित रचनाकार-व्यक्तित्व का अभिज्ञान कराती है जिससे उन्हें मार्क्सवादी या फिर दलित विरोधी सिद्ध करने की लत से हमारे आलोचक-प्रवर उबर सकेंगे। बावजूद इसके वे अपने हठाग्रह पर टिके रहें, तो उनके सम्मान में तुलसीदास का यही कथन पेश किया जा सकता है

“फूलई फरइ न बेंत जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरुख हृदयें न चेत जौं गुरु मिलहिं विरचि सम।”

पुस्तक-समीक्षा

संत एवं समाज*

ब्रज बिहारी कुमार**

‘संत रविदास की रामकहानी’ विद्वान कवि मनीषी डॉ. देवेन्द्र दीपक की औपन्यासिक कृति है, जिसमें लेखक ने संत कवि के स्वमुख से उनकी आत्मकथा, जीवन दर्शन, अध्यात्म-चिन्तन, आदि का उद्घाटन कराया है। संत रविदास हमारे देश के महान संत एवं संत-कवि रहे हैं। उन पर उपन्यास लिखकर देवेन्द्र दीपक जी ने हमारे देश एवं हिन्दी साहित्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उपन्यास में संत की आध्यात्मिक ऊँचाई से की गयी बातें हैं, जो विमर्श को ऊँचाई, उदात्तता एवं गहनता प्रदान करती हैं; हमें अपनी गौरवमयी परम्पराओं से जोड़ती हैं। “प्रभुजी तुम चंदन हम पानी” तथा “तुम दीपक हम बाती” महज संत कवि की कविता मात्र नहीं है, ऐसी अभिव्यक्ति साधना एवं अध्यात्म के उच्चतम शिखर पर पहुँचकर पायी जानेवाली अनुभूति से ही संभव है। पुस्तक में सामाजिक विमर्श उच्चकोटि के तथा विशृंखल दोनों ही हैं।

हमारे संतों ने जन्म से अधिक कर्म को महत्त्व दिया; शील और प्रज्ञा को महत्त्व दिया। ऐसा ही हमारे गहन अतीत से होता आ रहा है। भगवान बुद्ध एवं शोणदण्ड ब्राह्मण की वार्ता प्रसिद्ध है। बुद्ध के पूछने पर शोणदण्ड ने कहा कि ब्राह्मण वह है जो सुजन्मा है, सुवर्ण है, मंत्रधर है, प्रज्ञा एवं शीलवान है। बुद्ध ने एक एक कर उन कारकों को छोड़ने के लिए कहा। शोणदण्ड ने कुल, वर्ण एवं मंत्र के बिना भी ब्राह्मण होने की बात स्वीकार किया और कहा कि प्रज्ञा-प्रक्षालित शील एवं शील प्रक्षालित प्रज्ञा के बिना कोई व्यक्ति ब्राह्मण नहीं हो सकता। पाणिनी ने जाति-ब्राह्मण याने

*संत रविदास की रामकहानी, लेखक: देवेन्द्र दीपक, प्रकाशक: आर्य प्रकाशन मंडल, प/221, सरस्वती भंडार, गांधीनगर, दिल्ली-110031; प्रथम संस्करण: 2011; पृष्ठ: 168; मूल्य: 250 रुपये।

**ब्रज बिहारी कुमार, संपादक, ‘डायलाग’ एवं ‘चिन्तन-सृजन’, दिल्ली।

जन्म मात्र से ब्राह्मण शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थ में नहीं किया है। महर्षि व्यास ने भी महाभारत में “ब्राह्मणजन्मा शूद्र” एवं “शूद्र जन्मा ब्राह्मण” की बात कर कर्म की महत्ता ही प्रतिपादित किया है। गीता की, “गुण-कर्म विभागसः” की बात भी इसी संदर्भ में ली जानी चाहिए। संत रविदास की ब्राह्मण विषयक निम्न-लिखित साखी उन्हीं बातों की याद दिलाती है:

रविदास ब्राह्मण मति पूजिये, जऊ होवै गुनहीन।
पूजहिं चरन चंडाल के, जऊ होवै गुन परवीन।।
ऊँचे कुल के कारणै, ब्राह्मण कोय न होय।
जऊ जानहि ब्रह्म आतमा, रविदास कहि ब्राह्मण सोय।।
काम, क्रोध मद, लोभ तजि, जऊ करइ धरम कर कार।
सोई ब्राह्मण जानिए, कहि रविदास विचार।।
धरम करम जाने नहीं, मन महं जाति अभिमान।
ऐसे ब्राह्मण सों भलों, रविदास समक हूँ जान।।

स्पष्टतः जो बातें संत रविदास ने अपने साखी में कही हैं, वही तथागत एवं व्यास की भी हैं।

हमारे महाकाव्य महाभारत एवं पुराणों में वशिष्ठ, वाल्मीकी, पाराशर के हीन जन्म के बावजूद महान बनने की बात आयी है। संत रविदास भी अपनी साखी में उसी की याद दिलाते हैं :

वेश्या के वशिष्ठ होय, पढ़ देखो पुरान।
रविदास कहै हरि भजन से पदवी पाई महान।।
वाल्मीकि अधम कुल में जनम लिया है आन।
रविदास कहै हरि भक्ति कर होय रिषी महान।।
तनया चंडाल की कोख से पारासर रिषी जो होय।
रविदास कहै प्रभु सुमरि कर, ऊँच कहाय सोय।।

संत अपनी साखी में क्षत्रिय एवं वैश्य को उसके शास्त्र-सम्मत कर्म की याद दिलाते हैं। क्षत्रिय के विषय में उनकी साखी है।

दीन दुखी के हेतु जऊ, बारै अपने प्रान।
रविदास उस नर सूर को, साँचा छत्री जान।।
अंग अंग कटवाइहि, जऊ दीनन के हेत।
रविदास छत्री सोइ जानिये, जो छाँड़ै नाहि खेत।।

फिर वैश्य के विषय में संत रविदास लिखते हैं

रविदास बैस सोई जानिये, जोई सत कार कमाय।
पुण्य कमाई सदा लहै, लौरे सर्वत सुखाय।।

* * *

साँची हाटी बैठि करि, सौदा साँचा देई।
तकड़ी तौले साँच की, रविदास बैस है सोई।।

अन्ततः शूद्रत्व का भी कर्म से जुड़ाव है। संत की साखी है:

रविदास जऊ अति अपवित्र, सोई सूदर जान।
जउ कुकरमी असुधजन, सोई सूदर जान।।

* * *

हरिजनन करि सेवा लागै, मन अहंकार न राखै।
रविदास सूद सोई धन है, जऊ असत बचन न भाखै।।

संत रविदास ने, कबीर की ही तरह, आजीवन श्रम के महत्त्व को स्वीकारा और वे अपने पेशे में लगे रहे। उनकी निम्नलिखित साखी में भी श्रम की महत्ता प्रतिपादित हुई है :

स्रम को ईसर, जानिके जऊ पूजहिं दिन रैन।
रविदास तिन्हहि संसार में, सदा मिलिहिं सुख चैन।।
जिहवा से ओंकार जप, हथन सौं कर कार।
राम मिलिहिं घर आइके, कहि रविदास विचार।।

महाभारत कर्म की महत्ता का पाठ पढ़ने के लिए कौशिक ब्राह्मण को किसी ब्राह्मण के पास नहीं, बल्कि स्त्री, व्याधा एवं वैश्य के पास भेजता है। तपस्या-रत मुनि के शरीर पर बकुली बिट कर देती है; मुनि के क्रोधपूर्वक ऊपर देखने पर वह जलकर नीचे गिरती है, जिससे मुनि को अहंकार हो जाता है। फिर अपने काम से थके-माँदे पति की देख-रेख के कारण विलम्ब से भिक्षा देनेवाली गृहिणी पर वह क्रोध जताता है। गृहिणी कहती है: महाराज! मैं वकुली नहीं जो आपके क्रोध से जल जाऊँगी।” उसे आश्चर्य होता है; गृहिणी से क्षमा-माँगता है और उसके आग्रह करने पर गृहिणी उसे हर व्यक्ति द्वारा अपने लिए निर्धारित कर्म करने की महत्ता का उपदेश देती है। ज्ञान के लिए विशेष आग्रह करने पर वह कौशिक ब्राह्मण को धर्म-व्याध के पास भेजती है। व्याधा ब्राह्मण को धर्म, अहिंसा कर्मवाद, कर्म-विद्या का उपदेश देता है। कौशिक ब्राह्मण के उपस्थित होने पर व्याधा माँस काटने का अपना काम चालू रखकर उसे

अपने घर भिजवाता है; फिर काम खत्म कर ही घर आकर वह ब्राह्मण को उपदेश देता है। वह कौशिक ब्राह्मण को हर व्यक्ति द्वारा अपने निर्धारित कर्म करने के महत्त्व ही समझाता है और आगे के उपदेश के लिए उसे तुलाधर वैश्य के पास भेजता है, किसी ब्राह्मण या क्षत्रिय के पास नहीं और वह भी उसे कर्म की महत्ता ही समझाता है। संत अपने कर्म एवं साखियों में सदगुण एवं शील का महत्त्व ही बार-बार बताते हैं। वे इस बात को जानते हैं कि वैदिक-धर्म में कर्म की प्रधानता है; जन्म की नहीं। और फिर जाति के रोग, जिसमें सब लोग उलझे हुए हैं, मनुष्यता को बाधित कर रहा है। साखी है:

*जात पाँत के फेरी महि, उरझि रहइ सभ लोग।
मानुषता कूँ खात है, रविदास जात का रोग।।
जनम जात कूँ छाँडे करी, करनी जात परधान।।
रहयो वेद को धरम है, करै रविदास बखान।।*

अल विरूनी महमूद के साथ लगभग हजार साल पहले भारत आया था। उसने चार हिन्दू जातियों के एक स्थान पर भोजन करने की बात का व्योरा दिया है। स्पष्टतः इतनी जातियाँ, जो समान पेशेवालों के अन्तर्विवाही बनने से बनी, तथा छुआछूत हिन्दू समाज में तुर्क आक्रमण के बाद की बातें हैं। फिर जैसा कि धर्मपाल ने अपनी किताब “व्युटीफुल ट्री” में लिखा है, भारत में दलित सहित सभी जातियों के शिक्षक हुआ करते थे; परम्परागत शिक्षा सबके लिए उपलब्ध थी। वैसे हिन्दू समाज में आयी व्यावहारिक विचलन को नकारा नहीं जा सकता और ऐसे आचार्य भी थे जो वर्ण के नाम पर शिक्षा के रास्ते में बाधक बनते थे (पृष्ठ 52-53); लेकिन अखिल भारतीय स्तर पर सर्व-शिक्षा का अस्वीकार अंग्रेजों द्वारा निर्मित मिथक ही कहा जायेगा।

देवेन्द्र दीपक जी ने इस पुस्तक में संत रविदास के जीवन एवं कृति से जुड़े सभी पक्षों की गहनता से चर्चा किया है; अध्यात्म, दर्शन, समाज-चिन्तन ही नहीं, लोक विश्वास, मिथक, चमत्कार आदि को समेटे यह पुस्तक अच्छी बन पड़ी है। यह औपन्यासिक कृति, है, लम्बे समाज विमर्श एवं धर्म-दर्शन को आत्म-कथात्मक शैली में समेटे हुए, जो एक तरफ तो चरित्र-विकास एवं कथानक विस्तार को बहु-आयामी बनाते हैं, दूसरे तरफ सामान्य पाठक के लिए कृति को बोझिल बनाकर उसके पढ़ने में बाधक बनाते हैं।

संत रविदास के संतत्व एवं कवित्व को इस देश में सभी वर्गों एवं वर्णों की मान्यता एवं श्रद्धा मिली। दीपक जी ने अपने मनोगत में भक्तमाल में नामादास के निम्नलिखित पद को ठीक ही उद्धृत किया है:

*वर्णाश्रम अभिमान तजि, पद रज बंदहि जासु की।
संदेह ग्रंथि खंडन निपुन, बानि विमल रविदास की।।*

फिर विधर्मियों से समाज को बचाने में स्वामी रामानन्द एवं संत रविदास के योगदान संबंधी कर्मदास की उक्ति भी, जिसे दीपक जी ने टाँका है, बहुत सटीक है:

*हम कहिबे हैं निडर होय करि, साँची बात यह तब अरु अब की।
रामानंद रविदास विनु करते, तुगलक लोदी सुनत सबकी।।*

भारतीय समाज में उदार एवं अनुदार वैचारिक धाराएँ रही हैं। विद्वता एवं शील को सर्वमान्यता प्राप्त रही है, चाहे व्यक्ति देशी हो या विदेशी। जब सम्राट हर्ष कामरूप के ब्राह्मण राजा भाष्कर बर्मन से, जो बौद्ध नहीं है, हुएन सांग को वापस भेजने का संदेश भेजते हैं तो भाष्कर बर्मन चीनी यात्री को न भेजकर बदले में अपना सिर देने की बात करता है। संत रविदास को ब्राह्मण स्वामी रामानन्द शिष्य बनाते हैं तो क्षत्रिय रानी गुरु; समस्त हिन्दू समाज आदर एवं श्रद्धा देता है। फिर हमारे विमर्श में ब्राह्मण रामानन्द के ऊपर काशी के ब्राह्मणों की वरियता समझ में नहीं आती। स्पष्टतः जाति, वर्ण एवं कुल संबंधी विमर्श को बड़े धरातल पर ले जाने की जरूरत है। हिन्दुओं के चारों वर्णों में शूद्र भी आते हैं तथा छुआछूत के दायरे में एक समय प्रायः सभी जातियाँ आ गयी थीं, मात्रा में अंतर के साथ। फिर लेखक का यह मंतव्य ठीक नहीं लगता कि ‘रविदास जी ने अंततः अपनी साधना से सवर्णता प्राप्त कर ही ली।’

कान्हा बजावै बाँसुरिया* : एक अनिवार तान

देवेन्द्रनाथ शुक्ल**

‘सोनालय पारिजात’ की पुष्पलताओं से घिरा निरभ्र आकाश की ओर निहार ही रहा था कि ‘जनम-जनम की पहचानी यह तान कहाँ से आई। किसने बाँसुरी बजाई।’ कृष्ण की बाँसुरी मृत्युंजय के होंठों पर! घोर आश्चर्य! किन्तु यह मोहक सत्य था। और मैं इसकी टेर में रमता चला गया। सुर-ताल के अन्तर्सवादों में कई प्रत्यय उभरने लगे। इस रंगशाला में जैसे कोई पटाक्षेप नहीं था। कब सत्रह ‘संकायों’ से बाहर आया, पता ही नहीं चला। यह नवीन ‘वृन्दावन’ की मादक रागिनी थी! ‘कान्हा बजावै बाँसुरिया’। तब मैंने समझा यह किसी माहेश्वर सूत्र ‘नृत्यावसाने नटराजवीर ननाद ढक्कां नव पंच वार’ का जटाजाल नहीं जिसके लिए पाणिनी की आवश्यकता हो। यह तो सहृदयों का रिक्रय है।

सांस्कृतिक चेतना सम्पन्न चैतस भूमि पर ही ललित निबंधों का अवतरण संभव हो पाता है। वर्षों तक मथने वाली संवेदनाएँ घनीभूत हो बरसने लगती हैं। वहाँ यात्रिकता के लिए कोई जगह नहीं। ‘कुछ पंक्तियाँ वर्षों से मेरे मन-प्रांतर में बजतीं रहतीं थीं। अपनी नाना अर्थछवियों, अर्थछटाओं, ध्वन्यात्मकता और अपने निहितार्थ के साथ। वे बार-बार मुझे कहतीं थीं मुझे बाहर निकालो, विस्तार दो, खुला आकाश दो, नवीन संदर्भ दो। उनकी पुकार पर मैं कितना बेचैन हो जाता था, नहीं कह सकता हूँ। पर यहाँ आकर वे सभी मेरी ओर उन्मुख हो गईं। उन्हें मैं एक-एक कर आकार देता चला गया। मुक्त करता गया। और इस प्रकार ‘कान्हा बजावै बाँसुरिया’ रूपायिता हो उठी।

*कान्हा बजावै बाँसुरिया : लेखक-प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, पृष्ठ-128; मूल्य-250रु., सूर्यप्रभा प्रकाशन, 2/9, अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली-110002

** देवेन्द्रनाथ शुक्ल, ‘सोनालय पारिजात’, 144/2 सचित्र पाल सरणी, हैदरपाड़ा, पो. सेवक रोड, सिलीगुड़ी-734001, पश्चिम बंगाल; मो. 098320-97075

हर रचनाकार की अपनी एक प्रतिपत्ति होती है। उसे वह जीता है और उसके वलय का विस्तार भी करता है। उसी प्रतिपत्ति का रूपांतरण होता है उसका प्रतिपाद्य। ‘इसके प्रतिपाद्य के विषय में यही कह सकता हूँ कि शीर्षक में केंद्रीय भाव अवश्य है, पर मैं मन की बहक और कल्पना की उड़ान में कहीं परंपरा, कहीं तुलना और कहीं प्रासंगिकता में बहता रहा हूँ। पर प्रवाह और सातत्य की उपस्थिति सर्वत्र है।’ हर जगह लेखक से सहमति हो यह आवश्यक नहीं और यह अभीष्ट भी नहीं। ‘इंगिति’ के लेखक का विचार देखें। ‘उसकी स्वकीय संवेदना में सर्जना व लालित्य की लहरें फूटती हैं और पाठक से एक कमनीय ललित आत्मीयता स्थापित करना चाहती हैं। इन्हीं भावों की अवदान भूमा है यह ललित कृति।’ डॉ. आनन्द मोहन की टिप्पणी भी अपनी ललित प्रकृति और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के साथ ‘नावक के तीर’ सी बन गई है। इससे रचनाकार की सिसृक्षा और अधिक उद्दीप्त ही होगी ऐसा मुझे लगता है। ‘आत्मकथ्य’ और ‘इंगिति’ पुस्तक के रसास्वादन को और अधिक गहराई तक पहुँचाने में सक्षम हैं और अपने-अपने निहितार्थ को भी प्राप्त कर लेते हैं।

लेखक अपने मन्तव्य को और स्पष्ट करते हुए लिखता है ‘भारतीय संस्कृति और मनीषा में अवगाहन मेरा अभीष्ट रहा है।’ यह अवगाहन उसके निजत्व को खास अपने ढंग से परोसता है। इसमें ‘क्षणे-क्षणे यत् नवताम् उपैति तदेव रूपम् रमणीयताया’ का अनुभव पाठक की अपनी कसौटी है। पांडित्य और लालित्य का साहचर्य दुष्कर और दुर्लभ है, किन्तु प्रो. उपाध्याय ने इसे संभव करने का प्रयास किया है। इसमें बासमती चावल के साथ किसी को सिकता कण मिल जाए तो उसका दुर्भाग्य।

पहला निबंध ‘साधू भूखा भाव का’ एक वैयाकरण की भंगिमा के साथ शुरू होता है। भाव और साधु की व्याख्या के साथ उनके अंतर्संबंधों का विश्लेषण रोचक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। लौकिक और शास्त्रीय मतों से प्रतिपाद्य का विवेचन पढ़ने व लिखने का आग्रह पैदा करता है; संयोजन की कला से परिचय कराता है। उद्धृतियों की अतिशयता एक ओर पांडित्य को विवर्द्धित करती है तो दूसरी ओर लालित्य को विमन्दित भी। और, ऐसा प्रायः प्रत्येक निबंध में दृष्ट है। परंतु, फूलों से रस चूसकर मधु निर्मित करना उसका स्वभाव है, उसे वह कैसे छोड़! ‘ऋषयः मंत्र द्रष्टारः’।

‘रामहि केवल प्रेम पियारा’। राम को केवल प्रेम से ही पाया जा सकता है। जिनके लिए कोई अन्य साधन हो ही नहीं उनके लिए राम को पाने का सबसे सहज तरीका है प्रेम। ‘हे प्रेम जगत में सार और कुछ सार नहीं है।’ प्रेम के विभिन्न रूपों और सोपानों के मद्दे नजर हम कह सकते हैं कि प्रेमत्व ही रामत्व है। द्वैत में अद्वैत की उपलब्धि। ‘जानत तुमहि तुमहि होइ जाई।’ वामन में विराट का साक्षात्कार! ‘ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।’ किन्तु राम के रहते हुए भी प्रेम के लिए तरसना कितना कष्ट

कर है। मानव जाति का एकमात्र रक्षक प्रेम! साधन और साध्य दोनों ही! कुछ ऐसे ही भाव प्रसंग में 'प्रज्ञामेघ' की ये पंक्तियाँ 'अक्षर-अक्षर से स्पन्दित मूल तत्त्व में। अरे सलोने राम जहाँ तेरा निवास है। भावहीन क्या जा सकता भूतल का प्राणी।'

भारतीय मधु चेतना को नवोन्मेषित करने की एक चेष्टा दिखलाई पड़ती है। इसके लिए भाव-जगत में आलोड़न-विलोड़न चलता रहता है। कभी तमस की चाह भर जाती है क्योंकि 'मेरे प्रियतम को भाता है। तम के परदे में आना।' यह आना भी इतना आसान कहाँ रहा 'अंखिया तो झाँई पड़ी पंथ निहार-निहार। जीहड़िया छाला पड़ा नाम पुकार-पुकार।' लेकिन जब मधु बयार आती है तो उसके स्पन्दन से सारा जगत मादित हो उठता है 'मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।' मधु चेतना आनन्दमयी भूमा की देन है और यह स्वयं ऋजु परिवेश की। इसे पुनर्प्रतिष्ठित करने का कोई संकल्प दीख पड़ता है। लीला पुरुषोत्तम की लीलाभूमि का विस्तार उसी चेतना की विवृति है।

आग के प्रतीक द्वारा जीवन की तेजस्वीता, कुछ नया करने की आकांक्षा या क्रांतिकारी कदम उठाने को वाणी दी गई है। जहाँ जीर्णता और शीर्णता के लिए कोई जगह नहीं 'जला दे जीर्ण-शीर्ण प्राचीन। क्या करूँगा तन जीवनहीन।' शक्तिहीन जीवन किस काम का? इसलिए वह मुखर हो उठता है 'द्वुत झरो जगत के जीर्ण पात।' जो परिवर्तन नहीं ला सकते उनका नहीं रहना ही वाजिब है।

सहितस्य और स-हितस्य के दोनों पाटों से गुजरता हुआ साहित्यकार ऋत की साधना करता है जिसमें द्रष्टा और स्रष्टा का समन्वय सम्भव हो पाता है।

प्रेमचंद की रचनाओं के आलोक में इस सत्य का प्रतिपादन लेखक अपने ढंग से करता है। जीवन की व्याख्या संकीर्ण सीमांतों में नहीं हो सकती। कोई भी रचनाकार अपनी सृजन-बेला में विराट में लीन रहता है। उस सायुज्य काल में संवेदनाओं की घनीभूतता इतनी प्रबल रहती है कि अपनी निसृति का मार्ग स्वयं चुन लेती है। यहाँ अंतर्वृत्तियों का प्रभाव अत्यंत गहरा हो उठता है। कदाचित् इसीलिए 'कृति की अंतर्वृत्तियों की छानबीन की ओर ध्यान जाने लगा' है। किन्तु यही शेष नहीं है। इनके साथ ही जुड़ी है रचनाकार की अपनी वृत्तियाँ 'वृत्तयः पंचतस्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः। प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा-स्मृतयः (राग द्वेषादि क्लेषों की हेतुकी वृत्तियाँ तथा इनकी नाश करने वाली अक्लिष्ट वृत्तियाँ। ये वृत्तियाँ हैं प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।)

साहित्य ज्ञानात्मक संवेदना तथा संवेदनात्मक ज्ञान से जुड़ा हुआ है। यहाँ किसी पूर्वाग्रह और दुराग्रह के लिए कोई अवकाश नहीं। लेखक बड़ी सावधानी से उद्धृतियों के द्वारा बल्कि उसे ही अपना कथ्य बनाकर प्रस्तुत करता है। विषयवस्तु तीव्रता से स्पष्ट होती चली जाती है और वह कई एक जद्दोजहद से बच भी जाता है। लेखन की इस कला को उसने उपलब्ध किया है। पर, कहीं-कहीं वैचारिक सघनता ललित

आकांक्षा की रक्षा नहीं कर पाती। वृंदावन की कुंज गलियों में जैसे मुरली की मादक ध्वनि खो गई हो।

भाग्य और कर्म के द्वंद्व की न्याय-मीमांसा करने के लिए 'करम गति टारै ना टरी' की रचना नहीं हुई है बल्कि इसके माध्यम से 'रसोद्देवाय लब्ध्वा आनन्दी भवति' की प्राप्ति ही लेखक की हेतुकीय इच्छा रही होगी। इसमें मौजूपन के साथ पाठक भी अपना हिस्सा लेने से नहीं चुकता।

'टंग और टांग' प्रायः समुच्चरित शब्दों के द्वारा कुछ वैसे ही मौजूपन का एहसास कराता है लेखक। दोनों के फिसलने से जो दुर्गति होती है उसका विवेचन रोचक है। नीतिवचनों से दोनों के महिमामण्डन का विस्तार है। अर्थ-अनर्थ के विन्यास की इंगिति है। इसमें संस्कृति के कई आयामों से गुजरना भी सुखद है। लेकिन कहीं-कहीं प्रबोधन बाधक बन जाता है।

'चंदन-टीका लगा आए?' एक छोटा वाक्य! लेकिन अपनी व्यंजना शक्ति द्वारा कितना घातक प्रहार करता है। चैन से जीना तो दूर शांति से मरने भी नहीं देता। हजारों हजार बिच्छुओं का डंक एक साथ। चंदन तो षोडशोपचार का मात्र एक उपचार है किंतु यहाँ कितना मारक बन गया है। बदलते दृश्यों की एक छविमाला! अभिधा और लक्षणा गौण पड़ जाती हैं। रह-रहकर वंदना की उपस्थिति सारे मनकों को पिरोती चलती है। जैसे 'उसने कहा था।' निबंध में। यह एक ताजगी लाने वाला प्रयोग है।

मन की चंचलता तो उसकी स्वाभाविक स्थिति है। 'मन को रँगाना हो जिस रंग में रँग जाता है।' वह हर वैविध्य का भोक्ता होना चाहता है 'मन फूला-फूला फिरै।' इस पर नियंत्रण स्वाभाविकता पर, सहजता पर एक प्रतिबंध है। एक सर्जक की दृष्टि शायद इसे स्वीकार न करे। वह तो अनेकता का द्रष्टा है। 'हर एक पत्थर में आत्मा अधीरा है।' वह जीवन की स्वाभाविक गति का मर्मज्ञ है। 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' कहकर अपने सृजन का उपहास नहीं कर सकता।

श्रेयस और प्रेयस की आंतरिकता में जीवन की पहचान निहित हैं। 'कान्हा बजावै बाँसुरिया' उसकी एक झाँकी है। इसमें 'कालो न या तो वयमेव याता' की कोई अनुगूँज सुनाई पड़ जाए तो आश्चर्य नहीं। जाते-जाते अपने चिह्नों को छोड़ते चलने की कोई समवाय प्रचेष्टा! कई-कई द्वीपों को गतिप्रज्ञ सदानीरा का वरदान! किसी शाश्वत नैरंतर्य की आत्माभिव्यक्ति से मंडित रचनाओं में एक अनिवार पुकार सुनाई पड़ती है जिसकी अवहेलना नहीं हो सकती। कभी रुष्ट, कभी तुष्ट, कभी खिन्न, कभी प्रमुदित और कभी आत्म चैतन्य हो अपने में लीन कराने के लिए ये रचनाएँ बार-बार बुलाती हैं। आग्रह इतना प्रबल कि जाने के लिए कदम अनायास ही बढ़ जाएँ। यदि प्रूफ की 'माया' विस्तीर्ण नहीं होती तो दर्शन कितना भव्य होता।

बहरहाल तो पुस्तक लीजिए और एक अनिवार तान में डूब जाइए।

सिदो कान्हू और उनका आबुआराज

युगल झा*

वीर सिदो कान्हू का आबुआराज झारखंड के अतीत की प्रशस्त पृष्ठभूमि है। भारतभूमि के विशाल वितान पर पुराणों में वर्णित इस खंड को 'नारी भूमि' की संज्ञा दी गई है। प्रकृति की देवी ने अपने आरण्यक संतानों को सीमांचलों से आवाज दी। इतिहास की तारीख से पी.सी. राय चौधरी ने इस जनजाति के आगमन को इस क्षेत्र में 1790 से 1810 के बीच रेखांकित किया है। डॉ. पी.सी. विश्वास¹ के अनुसार, 'मुगल शासकों ने जंगल काटने और हिंसक पशुओं से सुरक्षित करने हेतु संतालों को इस क्षेत्र में बसने के लिए प्रेरित किया'। संतालों की उत्पत्ति और आदि निवास के सम्बन्ध में डॉ. डोमन साहू 'समीर' के दृष्टिकोण को अद्यतन माना जा सकता है। इनके अनुसार 'संताल शब्द जिससे संताली शब्द व्युत्पन्न है, वर्तमान पश्चिम बंगाल के मेदिनीपुर जिला स्थित सामन्तभूम या सामन्तभूई के नाम पर बना हुआ है। उक्त सामन्तभूमि वर्तमान सिलदा परगना के रूप में पहचाना गया है। संताल लोगों के पूर्वज, जैसा कि इन लोगों की परम्परागत लोकगाथाओं और इतिहास के बिखरे पन्नों से ज्ञात होता है, पंचनद प्रदेश या फिर उत्तर-पश्चिम से प्रव्रजित होकर झारखंड की सीमाओं में आये। सर ई.सी. मान² ने भी संतालों के निवास को संताल परगना में स्वीकार किया है। इनके अनुसार संताल अपने आध्यात्मिक गुरु मरांगबुरु के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि संतालों के जीवन-शैली में ईश्वरीय विश्वास को बड़ा ही महत्त्व मिला है। पाश्चात्य विद्वानों के इतिहास-बोध के आधार पर भी निश्चित करना कठिन है कि ये पंचनद में कब थे और गंगा के मैदानी क्षेत्रों में कब आए।

लेकिन डी.एन. मजुमदार³ ने संताल जनजातियों की जीवन-शैली में कृषि व्यवस्था के महत्त्व को स्वीकार किया है। इनके अनुसार मुंडा-उराँव और संतालों की एक जैसी जीवन-शैली है, जिसमें प्रकृति एवं पर्यावरण के प्रति पूर्ण समर्पण है।

*डॉ. युगल झा, एसोसिएट प्रोफेसर, के.के.एम. कॉलेज, पाकुड़, सिदो कान्हू मुर्मू विश्वविद्यालय, दुमका। ईमेल yugaljha@rediffmail.com

संताल समाज की सामुदायिक स्व-शासन व्यवस्था

संताल समाज मूलतः कृषक समाज की अन्यतम सीमाओं में प्रतिबद्ध था। संपूर्ण समाज की जीवन-शैली सामुदायिक सहभागिता के आधार पर स्थापित थी। गाँव की परम्परागत सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन-शैली स्वशासी व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य करती थी। उत्पादन का संबंध एवं जमीन के रिश्ते सहभागी परम्परागत विधियों से जुड़े थे, जिसकी प्रथम और प्रधान इकाई गाँव की पंचायत थी। गाँव की परम्परागत स्वशासी व्यवस्था के खिलाफ न तो कोई व्यक्ति जा सकता था, और न ही समाज संचालन के प्रमुख मॉड्री परगना या फिर दिशोम परगना। गाँव बसाने की प्रक्रिया और पद्धति तथा उसके लिए जुटाई जाने वाली सारी-सामग्री का निर्णय गाँव की स्वशासी निकाय सहभागिता के आधार पर ही करती थी। 'आबुआ आतो, आबुआ राज' की जीवन-पद्धति थी जिसका संबंध जमीन और जंगल से था। डब्लू. डब्लू. हांटर⁴ ने 1868 में अपनी पुस्तक 'संताल विलेज गर्वमेंट' में इस विषय में विस्तार से लिखा है।

आबुआराज की अवधारणा का विकास

संताल आदिवासी समाज के लिए जल-जंगल-जमीन और पर्यावरण अपने पूर्वजों की धरोहर हैं। जंगल-जमीन, नदी, पहाड़, झरना और धरती माता आदिवासी समाज के लिए सिर्फ संसाधन नहीं हैं, बल्कि चार खंभोंवाली वह मजबूत मीनार हैं जिस पर आबुआराज की पूरी परिकल्पना परिभाषित है। इसकी काया में बहने वाली नदियाँ जिसे हम दामोदर, हरमू, बासलोई, ब्राह्मणी एवं कोयल के रूप में जानते हैं जनजातीय समाज की जीवन संजीवनी हैं। इनके झरझर निनाद पूरे झारखंड की समरस संस्कृति की पाँव पखारती है एवं इसकी सुरभि को झारखंड के पर्यावरण में आलौडित करती रहती है। यह देश-काल की वह सच्चाई है, जिस पर किसी राष्ट्र का स्वाभिमान पलता है, संस्कृति सरमाया होती है और सभ्यता तीर्थ रूप लेती है। झारखंड का आदिवासी समाज संताल परगना की संरचनाओं को विकसित करने में ऐसे ही प्रामाणिक ऐतिहासिक सच्चाइयों को अपने दामन में समेटे हुए हैं, जिसकी चर्चा आवश्यक है।

आबुआराज की प्रबंध व्यवस्था पर ब्रिटिश राज की छाया

सन् 1757 के पलासी युद्ध में मुगलों की हार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को बंगाल एवं बिहार की शासन-व्यवस्था की परमिट सौंप दी, और इस तरह से पूरा देश गुलामी की पीड़ा से आहत होता रहा। लेकिन इसके विपरीत 1765 से लेकर 1857 तक कोई भी ऐसा साल नहीं रहा जब देश के किसी कोने में क्रांति की ज्वाला नहीं भड़की। फिर

भी जंगलतरी से लेकर कोल्हान तक आदिवासी इलाके के इस भूभाग ने अपनी जमीन और जंगल पर विदेशी हस्तक्षेप को कभी भी हृदय से स्वीकार नहीं किया। जब भी अनुकूल हवा मिली, इन इलाकों में अपनी स्वायत्त शासन-व्यवस्था बचाने हेतु लोगों ने क्रांति का बिगुल फूँका।

1793 में लार्ड कार्नवालिस ने मालगुजारी वसूली का स्थायी बन्दोबस्ती कानून लागू कर दिया। एक ही झटके में सामुदायिक स्वशासी व्यवस्था व्यक्तिगत संपत्ति में बदल गई, जब जमीन को किसी वस्तु की तरह बेचा-खरीदा जा सकता था। आदिवासी समुदाय अपनी धरती माता के लिए ऐसी बात सोच भी नहीं सकता था। मालगुजारी वसूलने के लिए इलाकेवार जमींदार नियुक्त कर दिए गए। गरीब गाँववाले, जिन्होंने कभी रुपया-पैसा देखा नहीं था, वे भारी-भरकम टैक्स कहाँ से दे पाते। 1770 के दशक से शुरू हुई जमींदारी-साहूकारी परम्परा झारखंड में आज तक कायम है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेजी शासनकाल और उसके भी पहले इस क्षेत्र में आदिवासी सामुदायिक, लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था कायम थी। इस शासन व्यवस्था को कमजोर किए बिना ईस्ट इंडिया कंपनी कभी भी अपना वर्चस्व स्थापित नहीं कर सकती थी। इसीलिए लार्ड कार्नवालिस ने संपूर्ण जमीन की बन्दोबस्ती का कानून बनाया, जो 1772 में स्थायी बन्दोबस्ती कानून के रूप में सामने आया। इसके माध्यम से ईस्ट इंडिया कंपनी ने व्यक्ति के नाम से जमीन की बन्दोबस्ती शुरू कर दी। यहाँ से सामुदायिकता को तोड़कर व्यक्तिवादी व्यवस्था की शुरुआत आदिवासी इलाके में हुई।

प्रथमतः इसी बन्दोबस्ती कानून ने जमींदारी और घटवाली व्यवस्था इस इलाके में फैलाया। प्रधानी व्यवस्था भी इसी का अंग था। अब तक जो गाँव स्वशासन के प्रमुख 'माँझी हड़ाम' या 'परगना' थे, अंग्रेजों ने उन्हें प्रधान और लगान वसूलने वाला घटवाल बना दिया। ब्रिटिश शासन और प्रशासन को अपनी व्यवस्था चलाने के साथ-साथ ब्रिटेन को अधिक-से-अधिक साधन एवं राजस्व यहाँ से भेजना था। इसी लिए इन लोगों ने जमीन पर लगान लगाने की प्रक्रिया की शुरुआत की। 1793 में स्थायी बन्दोबस्ती कानून बनने के बाद पूरा दक्षिण बिहार दहक उठा। सन् 1781-84 के बीच तिलका-माँझी (झरू पहाड़िया) के नेतृत्व में हुआ जनविद्रोह इसी लगान के खिलाफ राजमहल की तराइयों से निकलने वाला शंखनाद था। यह जनक्रांति की सामूहिक अभिव्यक्ति थी। तब तिलका माँझी ने कहा, "यह जमीन मरांगबुरु की देन है"। यह धरती माता है। इसीलिए हम सब किसी को भी इस पर लगान नहीं देंगे। चाहे वह घटवाल हो या अंग्रेज बहादुर। सामुदायिक जमीन की सुरक्षा-बचाने का यह पहला विद्रोह था। तिलका माँझी शहीद हो गए। अंग्रेजों के द्वारा इस क्रांति को कुचल दिया गया। उन्हें फाँसी दे दी गई। आज भी उनकी प्रतिमा भागलपुर के बरारी पथ

पर लगी हुई है और इतिहास की तारीख में यह तिलका माँझी चौक के नाम से अंकित है।

इतिहास गवाह है कि जब भी इस वनांचल प्रदेश की जनजातीय सामुदायिक जीवन-पद्धति पर हमला हुआ, संपूर्ण आदिवासी समाज में इन आक्रांताओं के प्रति असंतोष की ज्वाला फूट पड़ी है। सन् 1776 से सन् 1856 के बीच संपूर्ण झारखंड के प्रदेश में 40 से ज्यादा विद्रोह हुए। लेकिन इन सबों का चरित्र स्थानीय और सीमित ही रहा, पर इनके प्रभाव से संपूर्ण क्षेत्र ब्रितानी व्यवस्था के प्रति आक्रोश एवं प्रतिरोध की ज्वाला से भड़क उठा।

फिर एक बार राजमहल की तराइयों में तिलका माँझी की क्षार हुई अस्थियाँ लाल-लाल लपटों में बदल गई। सन् 1855-56 में वीर नायक सिदो-कान्हू जनजातीय संस्कृति की देशज जीवन-मूल्यों के प्रति शंखनाद कर उठे। इतिहास के पन्नों पर यह जन-क्रांति 'संताल हूल' के रूप में ख्यातिलब्ध हुई, जिसकी अनुगूँज इतनी भयावह थी कि ब्रिटेन की तख्त पर बैठी महारानी विक्टोरिया की नींद हराम हो गई। क्रांति का प्रभाव क्षेत्र भी व्यापक था। तत्कालीन दक्षिण बिहार, उत्तर बिहार एवं पश्चिम बंगाल के कोने-कोने में इसकी लहर दौड़ रही थी। सन् 1854 में वीरसिंह माँझी के नेतृत्व में महाजनों के खिलाफ आंदोलन हुआ। क्योंकि यह महाजन ही अंग्रेजी हुकूमत के एजेंट थे। इनकी ही मिलीभगत से संताल समाज अपनी जमीन से बेदखल हो रहा था। 'बन्दोबस्ती कानून' के बाद आदिवासी समाज के लिए अपनी सामुदायिक कृषक जीवन-शैली की स्वच्छंदता पर प्रतिबंध एक कागज के टुकड़े के सहारे कर दिया गया। इस संपूर्ण जन-जातीय समाज के मासूम चेहरे पर जंगल तरी से लेकर कोल्हान तक एक ही सवाल छाया रहा। खेतों में हल चलाकर खेती हम करते हैं, खेत हमारे, मेहनत हमारी, फसल भी हमारी, तो फिर ये जमींदार कौन होते हैं? क्यों दें हम इनको टैक्स?

'30 जून, 1855 की चाँदनी रात में करीब 10 हजार संताल भोगनाडीह में एकत्र हुए। नेतृत्व की पृष्ठभूमि पूर्व से तैयार थी। मध्यरात्रि में शाल वृक्ष के नीचे अपने ठाकुर के आदेश और आध्यात्मिक चेतना से प्राप्त 'टहनियों' से क्रांतिवीर सिदो-कान्हू ने ब्रितानी सत्ता के आदेश को अस्वीकार किया और अपने को वहाँ का 'सूबा' घोषित किया। 1855 का यह 'संताल हूल' एशिया महादेश की जनक्रांतियों में सम्मिलित हुआ क्योंकि इसका चरित्र बहुआयामी एवं बहुजातीय था। भाई चाँद-भैरव के साथ-साथ महिलाओं के प्रतिनिधित्व के रूप में फूलों एवं ज्ञानों भी इस क्रांति की सहभागिनी थीं। यह विद्रोह भी जमीन हड़पने एवं लगान वसूलने के खिलाफ ही था, हालाँकि अन्य बाध्यकारी शक्तियों ने भी इस आंदोलन की व्यापकता की पृष्ठभूमि तैयार की थी। इतिहास गवाह है कि लगभग 15000 विद्रोही इस जनांदोलन में शहीद हुए।

10 नवंबर, 1855 को ब्रिटिश हुकूमत ने झारखंड और बंगाल के संताल इलाकों में मार्शल लॉ घोषित कर दिया और इसे सेना के हाथ सौंप दिया। इसके बाद ब्रिटिश सेना का नंगा नाच शुरू हुआ। हजारों संताल जवान, बूढ़े, औरत तथा बच्चे मारे गए। संतालों की बस्तियाँ उजाड़ दी गईं। फरवरी 1856 में सिदू अंग्रेज सेना के हाथ पड़ गए। उन्हें उसी वक्त गोली मार दी गई। इस तरह संताल क्रांति के सबसे बड़े नेता का अन्त हो गया। चाँद और भैरव भागलपुर के पास भयंकर युद्ध में मारे गए। फरवरी के तीसरे सप्ताह में कान्हू बीरभूम जिले में पुलिस के हाथ पड़ गए। उन्हें भी उसी वक्त गोली मार दी गई।

इस प्रकार संताल हूल ने ब्रिटिश हुकूमत को यह बतला दिया था कि उनके दिन हिन्दुस्तान में लद चुके हैं। हिन्दुस्तान के राजा-महाराजाओं ने भले ही उनकी गुलामी स्वीकार कर ली हो किंतु हिन्दुस्तान का आम आदमी, किसान, मजदूर, आदिवासी एवं मूल वासी ने कभी भी चैन से उनकी गुलामी स्वीकार नहीं की। अतः इस भोगनाडीह की माटी को हम जितनी बार प्रणाम करें, वह कम होगा। इस माटी ने ऐसे शहीद क्रांतिकारी को जन्म दिया, जिन्होंने स्वशासन के स्वप्न को झारखंडियों के आँखों में बो दिया। कार्ल मार्क्स ने अपने 'दास कैपिटल' में इस विद्रोह को 'एंग्रेरियन रिवोल्ट' कहा है। इस जनांदोलन के परिणामस्वरूप संताल परगना का कास्तकारी कानून सामने आया। जब अंग्रेजों को लगा कि इस इलाके में शासन-व्यवस्था तब तक कायम नहीं हो सकती, जब तक यहाँ की परम्परागत व्यवस्था से समझौता नहीं हो जाता। इसीलिए अंग्रेजों ने यहाँ की स्थानीय स्वशासन व्यवस्था के साथ समझौता की पहल शुरू की। क्रांति-नायकों की शहादत के बाद संताल परगना की ग्राम पंचायतों में परम्परागत माँझी परगना और देश माँझी से संपर्क स्थापित किया गया। संवाद की प्रक्रिया बहाल की गई। छोटे राय देश माँझी ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। परिणामस्वरूप 1856 में 'संताल परगना' नामक एक अलग क्षेत्र का सृजन किया गया। 1856 में, 'न्यू पुलिस रूल' के तहत स्थानीय स्वशासी व्यवस्था को मान्यता मिली। इसमें 'उपायुक्त' नामक पद का सृजन हुआ, जिन्हें राजस्व और दंड दोनों का अधिकार सौंप दिया गया। अब उपायुक्त से सीधे माँझी परगना और दिशोम परगना संवाद कर सकता था। इसमें मध्यस्थ यानी बिचौलियेपन की प्रक्रिया पर रोक लगा दी गई। परम्परागत संस्थाओं और गाँव की संरचनाओं में लिपटी न्याय-व्यवस्था को अधिमान दिया गया। यानी यह व्यवस्था दो सत्ता के बीच आपस की संधि-पत्र था, और यह हूल की ज्वाला से उपजी संधि थी। इसी संधि का परिणाम है कि आज भी संताल परगना के आम लोगों और यहाँ के जनजातीय लोगों के पास जीवन-यापन लायक जमीन है। निस्संदेह संताल परगना का कास्तकारी कानून यहाँ के आदिवासियों और मूल वासियों के लिए संरक्षण की पट्टिका है।

झारखंड के जनजातीय समाज की प्रकृति से पूर्वजों-सा लगाव तथा उसके प्रति मातृत्व का भाव ही उसके सामुदायिक जीवन की शाश्वत अन्तर्दृष्टि है, खासकर इनकी ऐतिहासिक दृष्टि इस संदर्भ में अत्यंत गहरी है। अंग्रेजी हुकूमत आदिवासियों की अन्तर्दृष्टि से पूर्ण रूप से परिचित हो चुकी थी, इस बात को गंभीरता से समझने की जरूरत है। 1832 में विलकिंशन रूल्स के तहत कोल्हान इलाके में शासन की अर्द्ध-स्वायत्तता या फिर 1831-32 में संताल परगना में दामिन क्षेत्र की घोषणा एवं निर्माण, 1908 में छोटानागपुर का कास्तकारी अधिनियम, सन् 1912 में संताल परगना कास्तकारी अधिनियम बना। अंग्रेज पूर्ण रूप से वाकिफ थे कि यहाँ की शासन-व्यवस्था हम बन्दूक के बल पर नहीं चला सकते। अतः इन तमाम अधिनियमों में उन्हें आदिवासी अस्मिता और स्वायत्तता का पूरा-पूरा ख्याल रखना पड़ा।

अतः इन कानूनों के तहत स्थानीय आदिवासियों समेत कई अन्य कास्तकारी जातियों की जमीन को परम्परागत एवं कानूनी सुरक्षा दी गई। आदिवासियों की जमीन को खरीद-फरोक्त से अलग रखा गया है, और जिला के उपायुक्त को प्रशासनिक सत्ता सौंप दी गई है। संपूर्ण क्षेत्र के विधान की चर्चा संविधान की पाँचवीं अनुसूची में किया गया है।

आज इस संधि (कानून) को बड़ी तेजी से बदलने की साजिश हो रही है, जिसे यहाँ की माँझी परगना व्यवस्था और स्वशासन की परम्परागत व्यवस्था कामयाब नहीं होने दे रही है। 5वीं अनुसूची की व्यवस्था और पेसा (PESA) कानून के तहत मिले अधिकार ने इस कानून को मजबूती प्रदान की है। बाद के दिनों में वनाधिकार कानून से भी सामुदायिक अधिकार को बल मिला है।

निष्कर्षतः 1793 से 1868 एवं 1871 के बीच जो बन्दोबस्ती कानून अस्तित्व में आए सबों पर Sprit of Law का ज्यादा प्रभाव था। Macpharson ने तो अपने Settlement Report में इसे जनजातीय समाज का Megnacarta⁵ कहा है। यही कारण है कि, ग्लोबल इकोनमी के पुरोधों तथा भू-खोरों को यहाँ जमीन खरीदने में काफी कठिनाई हो रही है। लेकिन झारखंड विकास के नाम पर बन्दोबस्ती कानून से लेकर कास्तकारी अधिनियम में संशोधन या फिर इसमें बदलाव की कोशिश पूरे झारखंड क्षेत्र में एक गहरे सामाजिक-सांस्कृतिक अन्तर्विरोध का बीजारोपण कर रही है। प्रखर पत्रकार फैसल अनुराग⁶ के अनुसार "भारतीय संविधान में जनजातियों के लिए 5वीं अनुसूची में किए गए प्रावधान एवं पेसा कानून की संपुष्टि से झारखंड की जनता में एक नई राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक समरसता की त्रिवेणी का उदय हुआ था। लेकिन नए पूँजीपतियों एवं बाजारवाद की आकांक्षा लिए भू-माफियों की नई चाल इस पूरे जनजातीय क्षेत्र की अस्मिता को खरीदफरोक्त का क्षेत्र बना रही है।" वस्तुतः जमीन की खरीद-बिक्री के लिए इनकी साजिश ने इस क्षेत्र की आर्थिक नाकेबन्दी कर

दिया है। सरकार को अपने राज्य की जनता के हितों की कोई चिन्ता नहीं है। सरकार के औद्योगिक नीति से स्पष्ट है कि राज्य सरकार की तमाम प्राकृतिक संपदा बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हवाले कर दिया गया है।

पत्रकार एवं महिला आयोग की बासवीं करो⁷ के अनुसार 'वीर सिदो कान्हू' से लेकर बिरसा मुंडा तक महाजनी के खिलाफ, साम्राज्यवाद एवं सामंतवाद के खिलाफ लड़े और लड़ते हुए कुर्बान हो गए। अपने उबलते हुए खून से इन्होंने शोषण से मुक्त 'आबुआराज' एवं 'उलगुलान' की शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ करने का प्रयास किया। आज उनकी जमीन धूल की तरह उड़ती चली जा रही है। बिरसा का यह स्वर आज भी पहाड़ों, जंगलों, नदी, नालों, एवं झरनों में गुंजायमान है।' वरिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता नलिनिकांत कहते हैं, 'टूटते पहाड़ और कटते जंगल एवं क्रसरों की चीखती आवाज संताल परगना के पर्यावरण के लिए खतरे की घंटी है।' ⁸ जनजातीय समाज की पीड़ाओं से जुड़ी हुई 'मानवी' की सचिव सुश्री अन्नु⁹ कहती हैं 'माँ, माटी और मानुष की चिन्ताओं में जाने कितने वर्षों से फूलों एवं ज्ञानों की शहीद आत्मा झारखंड के नवनिर्माण पर अपने आँसू बहा रही हैं, लेकिन जब राज्य के आकाओं की चेतना एवं इच्छा-शक्ति ही मूर्च्छित हो तो कौन झारखंड के आबुआराज के स्वप्न को साकार करेगा।' ¹⁰

शायद, बिरसा की तरह ही उनके पूर्वज सिदो कान्हू ने भी अपनी शहादत इसी जीवन-मूल्यों के लिए दिया था। उनके आबुआराज की लड़ाई अतीत के उन अनुत्तरित प्रश्नों का उत्तर और अनुद्घाटित रहस्यों के उद्भेदन का एक भगीरथ प्रयास था। आदिवासी अस्तित्व के लिए संघर्षरत सामाजिक नेत्री दयामनी बारला कहती हैं, ¹⁰ '1800 से 1947 एवं आजाद भारत के अद्यतन सामुदायिक वन प्रबंधन पर दर्जनों वन कानून बनाए गए, कभी रिजर्व वन के नाम पर जंगल पर आदिवासी के अधिकार को समाप्त किया गया, तो कभी पब्लिक फॉरेस्ट के नाम पर। यही नहीं वन आश्रयणी कानून के तहत भी लाखों आदिवासी गाँवों को जंगलों से हटा दिया गया। आदिवासी समुदायों के हाथ से इसकी साझी विरासत को लूटने के लिए सैकड़ों कानूनी हथकंडे अपनाए गए। आज विश्व के पूँजीपति हमारे पानी, जंगल, गाँव, झरना, खेत-खलिहान, नदियों से मुनाफा कमाने के लिए अपनी आँखें गड़ाए हुए हैं। सैकड़ों कंपनियाँ अपनी पूँजी को हमारे धरोहर के दोहन के लिए निवेश करने की होड़ में खड़ी हैं।' ¹¹

सच तो यह है कि आबुआराज की प्रशस्त पृष्ठभूमि के मुताबिक जंगल सिर्फ पेड़-पौधे ही नहीं हैं, बल्कि जंगल आदिवासी समाज का इतिहास, परम्परा, भाषा-संस्कृति पहचान के साथ आजीविका एवं स्वस्थ जीवन का मूल आधार भी है। जंगल के जानवर आदिवासी समाज के मित्र हैं, और जंगल देश के पर्यावरण का प्रमुख आधार है, क्योंकि जंगल जहाँ है आदिवासी समाज भी वहीं है। प्रभात खबर के मुख्य संपादक

डॉ. हरिवंश¹¹ कहते हैं, 'औद्योगिकीकरण झारखंड की जरूरत है, लेकिन वर्तमान विकास मॉडल ने नगरीकरण के जिस स्वरूप को निर्धारित किया है, वह राष्ट्र और समाज की आरण्यक संस्कृति के लिए घातक है। इस मॉडल ने जिस तेजी से आदिवासी समाज को उजाड़ा है, उसी रफतार से, देश के पर्यावरण को भी प्रदूषित किया है। जंगल के उजड़ने से पर्यावरण पर काफी बुरा असर पड़ा है। झारखंड की कृषक संस्कृति नष्ट हुई है। वनोपज विलुप्त हो रहे हैं। जंगलों में जीवित रहने वाले प्राणी स्वतः समाप्त हो रहे हैं। जंगल में मौजूद हजारों जैविक विविधता की धरोहर जड़ी-बूटियाँ नष्ट हो रही हैं। इसका प्रतिकूल प्रभाव पूरी अर्थव्यवस्था पर पड़ रहा है।

सन्दर्भ

1. प्रिमिटिव रिलिन एंड सोशल ऑर्गेनाइजेशन, 1935 भो. 4, पृ. 15।
2. संतालीज एंड संताल्स, जियो एंड को. कलकत्ता 1857, पृ. 29।
3. रसज एंड कल्चर्स ऑफ इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस बॉम्बे 1944, पृ. 16।
4. द इंपिरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, संताल परगना, भो. 22, क्लार्क प्रेस, पृ. 85।
5. फाइनल रिपोर्ट ऑन द संताल परगना सेटेलमेंट, गॉवर्नमेंट ऑफ बंगाल कलकत्ता 1909, पृ. 18।
6. संभावनाओं की इंडस्ट्रीज, दैनिक जागरण, 07 फरवरी, 2012, पृ. 09।
7. आबुआराज की सच्चाइयाँ, दैनिक जागरण, 18 मार्च, 2012, पृ. 28।
8. संताल परगना का पर्यावरण, सहोदरा, दिल्ली, 1991, पृ. 18।
9. आधी दुनिया, महिला संवाद, दिसंबर 18 मार्च, 2001, पृ. 28।
10. कटते जंगल उजरते लोग, दैनिक जागरण, 31 दिसंबर, 2011, पृ. 09।
11. झारखंड की चुनौतियाँ, प्रभात खबर 12 जनवरी, 2012, पृ. 08।

हृदय एवं सहृदय

योगेश शर्मा*

प्रस्तुत विषय का सम्बन्ध दर्शनशास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र दोनों से ही है। यह काव्यानुभूति एवं उसके अनुभावक की व्याख्या दर्शनशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र की पृष्ठभूमि में करता है। इस व्याख्या के तन्त्र, उपकरण एवं प्रविधि इन्हीं दो शास्त्रों (दर्शन एवं सौन्दर्य) से भारतीय ज्ञान परम्परा में 'रस-सूत्र' की व्याख्याकाल से लिए जाते हैं। जिसके सबसे बड़े प्रामाणिक आचार्य स्वयं अभिनवगुप्तपादाचार्य हैं। काव्यानुभूति के प्रमाता सहृदय का सम्बन्ध हृदय तत्त्व से है, जिसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन में आनन्द, चित्ति, प्रतिभा, शिवा, परा, स्वातन्त्र्य एवं विमर्श आदि अभिधानों से भी अभिहित किया गया है। काव्य का अधिकारी सहृदय है।

भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में अधिकारी की अवधारणा परिवर्तनशील रही है। इस परम्परा में इसे कात्यायन ने नागरक¹, भरत मुनि ने प्रेक्षक², दण्डी ने विदग्ध³, लोल्लट एवं शंकुक ने सामाजिक⁴, भट्टनायक ने सामाजिक एवं सिद्धिमान्तर⁵, आनन्दवर्द्धन ने सहृदय⁶, अभिनवगुप्त ने अधिकारी⁷ एवं सहृदय, राजशेखर ने भावक⁸, मम्मट ने प्रतिभाजुष⁹ तथा विश्वनाथ ने प्रमाता¹⁰ आदि भिन्न-भिन्न अभिधानों से अभिहित किया है। ये सभी नाम काव्य-ग्राहक के रूप में युक्त हुए हैं, किन्तु इनमें से सहृदय पद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

1. काव्य चिन्तन के क्षेत्र में सहृदय शब्द का प्रयोग दो स्थितियों में हुआ है 1. सर्जक के रूप में तथा 2. ग्राहक के रूप में। प्रस्तुत विषय का सम्बन्ध ग्राहक पक्षीय सहृदय से है। सहृदय शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र में तो मिलता ही है, किन्तु इसका सर्वप्रथम प्रयोग अथर्ववेद में हुआ है। 'सहृदयं सामनस्यमद्विषं कृणोमि वः'¹¹ इस पंक्ति में सहृदय का अर्थ समान हृदय है। काव्यास्वाद के सन्दर्भ में नायक कवि तथा श्रोता अनुभव साम्य की दृष्टि से समान हृदय वाले या सहृदय कहे जाते हैं। नाट्यशास्त्र में इसके लिए सुमनस् प्रेक्षक का प्रयोग है। भरत, भामह, दण्डी, वामन

*शोध-छात्र, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

तथा उद्भट आदि ने सहृदय शब्द के समानार्थक अन्य शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु सहृदय का प्रचुर मात्रा में प्रयोग आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यालोक¹² में किया है। इस सहृदय शब्द की व्याख्या अभिनवगुप्तपादाचार्य ने लोचन में विस्तार से की है। अभिनवगुप्त शैव हैं, उन्होंने दार्शनिक ग्रन्थों के साथ-साथ साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखे। अतः साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उनकी शैव दार्शनिक दृष्टि भी देखने को मिलती है। उन्होंने कई साहित्यशास्त्रीय विषयों को प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आलोक में विख्यात किया है। सहृदय की अवधारणा भी उनकी शैवी दृष्टि की देन है। वस्तुतः सहृदय शब्द का साक्षात् सम्बन्ध हृदय तत्त्व से है।

हृदय तत्त्व शैव दर्शन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जिसे चित्ति शक्ति (आनन्द शक्ति), विमर्श, प्रतिभा, शिवा, स्वातन्त्र्य का प्रतिपादक भी माना गया है। इसमें आनन्द का प्राधान्य है। यह उपचारतः परमशिव का हृदय है।¹³

हृदय तत्त्व का तन्त्रालोक एवं अन्य शैव दार्शनिक ग्रन्थों में उल्लेख आया है, जिसका भिन्न-भिन्न आयामों में प्रयोग हुआ है। हृदय तत्त्व तदुभययामल-स्फुरित भाव विसर्गमय है।¹⁴ तदुभय शब्द जननी और जनक रूप शिव-शक्ति की उभयात्मकता की ओर संकेत करता है। इन दोनों का यामल भाव हृदय है। इसी से सम्पूर्ण जगत् आभासित होता है और इसी में विलय हो जाता है। इसीलिए इसे स्फुटिभाव विसर्गमय कहा गया है।

हृदय को शक्ति-सूत्र भी कहा गया है¹⁵ क्योंकि यह सम्पूर्ण सृष्टि काल आदि सम्पूर्ण शक्ति चक्र का आसूत्रण करनेवाला है। यह नित्य प्रस्फुरणशील है। चूँकि सम्पूर्ण सृष्टि आदि सबका लय इसी में होता है। परिणामतः आगे कुछ भी नहीं बचता। इसलिए यह अनुत्तर तत्त्व भी कहलाता है। इसीलिए इसे अमृत भी कहते हैं।¹⁶

'हृदय' को बोध का पर्याय¹⁷ भी कहा गया है। उसमें अर्थात् स्वबोध में स्वात्म का विमर्श (द्रवित) बाहर फैले समग्र संसार को स्वात्मसात् कर लेता है। संसार की उत्पत्ति की आदिम से लेकर संहार तक यह शाश्वत उच्छलित है। किसी विशेष के अभाव के और शान्ति के कारण इसे सामान्य भी कहा गया है। स्पन्दशास्त्र में हृदय को स्पन्द कहा जाता है। स्पन्दन का तात्पर्य है किंचित् चलन अर्थात् उसमें कुछ-न-कुछ उच्छलन स्वाभाविक है। इसे ही विमर्श भी कहा गया है। यही विमर्श चेतन और अचेतन समस्त चराचर जगत् का प्राण है, यही सबका सार रहस्य है।¹⁸

विषय की प्रतिष्ठा संविन्निष्ठ होती है।¹⁹ इस शक्ति के अनुसार सारा जड़ जगत् उसी संवित् का सार है अन्यथा यह संवेद्य नहीं कहा जा सकता, संविद् ही सब में प्रतिष्ठित है। वही हृदय है उसी के अधीन इसकी प्रतिष्ठा है।

इस प्रकार हृदय शैव दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व है, जिसकी स्थिति सम्पूर्ण चराचर जगत् में है। उन्मेष और निमेष की स्थिति का आधार भी यही है। अर्थात् सृजनात्मकता

एवं ग्राहकता दोनों का कारण यही है। सृजनात्मकता के कारण इसी को प्रतिभा भी कहा जाता है।²⁰ हृदय ही शिव की आनन्द-शक्ति है। सम्पूर्ण जगत् आनन्दशक्ति का ही स्फार विस्तार है।²¹ सम्पूर्ण विश्व आनन्दशक्ति से ही सृजित होता है, परन्तु जीव मायाजनित कला, विद्या, राग, काल, नियति नामक पाँच कंचुकों से आवृत किए जाने पर सीमित शक्तिमान होता है। जीव अर्थात् पुरुष को सम्पूर्ण जगत् जो शिव की कला होने से आनन्दमय है दुःखरूप प्रतीत होता है। अभेद में भेद बुद्धि का उदय हो जाता है परन्तु जगत् के परमानन्दमय परमशिव के ही रूप का ज्ञान हो जाने पर अपरिमित आनन्द की उपलब्धि होती है। चेतना का यह रूप स्फुरता विमर्श, आनन्द भिन्न नामों से अभिहित होता है। यह देश, काल की सीमा से ऊपर है, यह विश्रान्ति रूप होता है। विश्रान्ति परमशिव की विश्वोत्तीर्ण अनुत्तर दशा होती है। यह स्वात्मतत्त्व मय परमधाम है। तन्त्रालोक में इसे ही हृदय आदि शब्दों से व्यक्त किया गया है। यही साधक की साधना का विषय है।

‘हृदय’ शब्द शैव दर्शन में विभिन्न आयामपूर्वक प्रयुक्त हुआ है, हृदय तत्त्व के कई पक्ष इस दर्शन में परिलक्षित होते हैं। वाक्यपदीयकार की एक कारिका इस कथन को पुष्ट करती है कि ‘एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। अनेक शक्तियाँ हो सकती हैं’ जैसे कि अग्नि में प्रकाश, दाहकता दोनों नियोजित हैं।²²

‘हृदय’ शब्द की भी यही स्थिति है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में इसके विभिन्न पर्यायों पर दृष्टिपात् किया गया है। चिति, प्रत्यवमर्श, स्फुरता, विमर्श, स्वरसोदिता, स्पन्द, ऐश्वर्य, आनन्द, स्वातन्त्र्य, हृदय आदि को परस्पर एक-दूसरे के पर्यायों के रूप में माना जाता है।²³

चिति

‘चेतयति’ इस क्रिया में जो चिति (जानने अर्थ में क्रिया) है उसका परामर्श स्मरण रूप से करना यही इसका अपना चमत्कार रूप है, क्योंकि घट अपने आपको प्रकाशित नहीं करता अर्थात् अपरिच्छिन्न रूप में नहीं भासता है। इसी कारण घट स्वयं जानता है ऐसे कोई नहीं बोलते हैं। चैत्र तो अपने में सर्वदा ज्ञानमय होने के कारण चमत्कृत ही रहता है, एवं अपने में प्रकाशित रहता है और सारे विश्व को अपने में किए रहता है। नील-पीत, सुख-दुःखादि से युक्त रहना एवं कभी न रहता, ये बातें उसमें होती रहती हैं, इसलिए चैत्र जानता है, ऐसा कहा जाता है।²⁴

इस प्रकार चिति बोधात्मक है, उसी के द्वारा संसार के सभी प्राणियों को विमर्श होता है। वस्तुतः चिति: परमशिव का शक्ति रूप है। जिसे स्वातन्त्र्य भी कहा जाता है। वही विश्व सिद्धि का हेतु है।²⁵ यही संकुचित विश्वमय शरीर को धारण करने वाला है। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में कहा भी गया है

जिस प्रकार संसार परमशिव का शरीर है, वैसे वही संकुचित चिति-शक्ति रूप जीवात्मा भी संकुचित विश्वमय शरीर को धारण करनेवाला है।²⁶ परमशिवगत चिति सृष्टि स्थिति आभासन का हेतु है। यही संकुचित रूप जीवात्मा रूप होकर भोग-मोक्ष स्वरूप सिद्धियों की हेतु है। इसी चिति के कारण सुखदुःखात्मक रूप बोध होता है। तन्त्रालोक में कहा गया है विश्व के सारे प्रमाता और सांसारिक प्रमेयों का समूचा प्रवर्ग चिति में ही समाए हुए है। इस प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति रूप जगत् में एक मात्र चिति का ही चमत्कार चल रहा है। इस प्रकार साधकों को उसी चिति के मनन, एवं अनुसन्धान की आवश्यकता है।²⁷ यही आनन्दमय स्थिति है। इसीलिए यह हृदय के पर्याय रूप में जानी जाती है।

विमर्श

विमर्श तो सब कुछ सहनेवाला होता है, इदन्ता को भी अपना बना लेता है और अपने-आपको भी देहादि रूप इदन्ता कर लेता है तथा दोनों को सदाशिव भूमि में एक भी कर लेता है एवं किए हुए को दो भागों में विभक्त कर देता है। एक को जाग्रत अवस्था में बढ़ा देता है एवं दूसरे को शून्य अवस्था में दबा देता है। ऐसा स्वभाव वाला है। अवभास का स्वभाव ही विमर्श है। स्वरूप परामर्श करनेवाले ही इसको जानते हैं और तत्त्ववेत्ता लोग विमर्श को अहम् असांकेतिक, स्वातन्त्र्य रूप, आत्मविश्रान्ति रूप ज्ञाता कहते हैं।²⁸

प्रत्यवमर्श

प्रत्यवमर्श जो भीतर-ही-भीतर जानना और उसमें किसी का संकेत भी नहीं रहता, मैं स्वयं इन नीलादिरूप का भोक्ता हूँ, यही चमत्कार रहता है, बिना बोले हुए स्वीकार कर लेने के बराबर अकारादि सांकेतिक शब्दों का जीवन है, यह नील है, मैं चैत्र हूँ।

परावाक् परावक्ति विश्वम् अलपति प्रत्यवमर्शेन इति वाक्।

स्वरसोदिता

परावाणी अपने-आपमें स्वात्मविश्रान्ति रूप चिद्रूप से निरन्तर उदित होती रहती है, ‘अहं’ इस परामर्श रूप में सदैव स्फुरित रहती है। यही परमात्मा का भुज्य स्वातन्त्र्य ऐश्वर्य एवं स्वामीपन है, जिसमें किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रहती। यह रस-स्वरूप आनन्द से उदित है तथा परावाक् स्वरूप है।

आनन्द, ऐश्वर्य, स्वातन्त्र्य चैतन्य

किसी की उपेक्षा न रखना यही परमार्थतः आनन्द, ऐश्वर्य और स्वातन्त्र्य है।

स्फुरता

वस्तुतः स्फुरता स्वात्मप्रकाशन शक्ति है। उसमें स्व के प्रकाशन हेतु किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रहती।

स्पन्द

स्पन्दन का अर्थ है कि कुछ चलनात्मक प्रवृत्ति का होना, एवं यही किञ्चित् झलकना है जो स्वयं अचल रहता हुआ भी द्रष्टा के यहाँ स्फुरित होता है, क्योंकि प्रकाश रूप द्रष्टा से वह थोड़ा-सा भी अधिक नहीं होता है, स्वतः अपने-आप अधिक होने के समान, वह अचल रहता हुआ ही आभास भेद से मिला हुआ ही झलकता है। इसी कारण कहा है

सभी भावों में विज्ञान रूप शरीरवाला आत्मा ही अपनी इच्छा की वृद्धि को न रोककर दृष्टि क्रिया को फैलाता हुआ विश्व रूप ही रहता है।

अतिक्रोधी अथवा प्रहृष्ट-प्रसन्न रहनेवाला या किंकर्तव्यविमूढ़ रहनेवाला या दौड़ता हुआ जिस अवस्था में स्थित रहता, वही प्रतिष्ठित स्पन्द कहलाता है।²⁹

इस प्रकार हृदय तत्त्व के उपर्युक्त पर्याय किसी-न-किसी रूप में हृदय को ही विभिन्न स्तरों पर परिभाषित करते हैं। इन पर्यायों का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि इनका सम्बन्ध परमशिव की दोनों स्थितियों उन्मेष एवं निमेष से है। सृष्टि का आभासन परमशिव की ईश्वरता है। अतः हृदय ऐश्वर्य है। वह (परमशिव) अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से इसका सम्पादन करते हैं। स्फुरता, चित्, स्पन्द आदि इसी पक्ष को उद्घाटित करते से प्रतीत होते हैं। विमर्श प्रत्यवमर्श, स्वरसोदिता, आनन्द आदि साधकगत प्रतीत होते हैं। ध्यातव्य है कि हृदय की स्थिति समष्टिगत एवं व्यष्टिगत दोनों स्तरों पर होती है। समष्टिगत का उल्लेख किया जा चुका है। व्यष्टिगत मायादि छह कंचुकों से आवृत होती है। उसमें सीमित कर्तृत्व होता है। जीवात्मा जब समस्त मलों एवं कंचुकों से अनावृत हो जाता है उस समय सीमित हृदय का विस्तार हो जाता है। वह परमशिवमय हो जाता है। विमर्श आदि रूप हृदय के इसी रूप को व्यक्त करते हैं। जैसा कि विमर्श के लक्षण में कहा जा चुका है कि सभी सहने की क्षमता है, जिसमें जो, सभी को एकीकृत करता है। यह आत्मविश्रान्ति रूप ज्ञाता की अवस्था है। जहाँ अहमस्मि का बोध होता है। वही यहाँ अभीष्ट है। यह अवस्था सृष्टि के व्युत्क्रम को दर्शाती है, जो निमेष है।

आनन्द का तात्पर्य है हृदय का विस्तार। जब साधक आणवोपायादि से अपने चित्त को शुद्ध कर सम्पूर्ण जगत आदि को अपने में ही प्रतिबिम्बित समझने लगता है। यह अवस्था अहमस्मि के बोध की अवस्था है। यही परमशिवमयता है। यही हृदय

विस्तार है। इसी को शैवदर्शन में आनन्द कहा गया है।³⁰ इसी अवस्था को अभिनवगुप्त पादाचार्य ने अभिनव भारती में समापत्ति, विश्रान्ति, लय, चमत्कार, भोग इत्यादि शब्दों से अभिहित किया है। यही काव्यशास्त्र में रसना, आस्वाद एवं आह्लाद है।³¹

चमत्कार एक निर्विघ्न रूप आत्मानन्द के उपभोग की अवस्था है। चमत्कार शब्द में 'चमु अदने' धातु से चमत् शब्द की निष्पत्ति होती है। काव्य अथवा गीतादि के रस एवं आत्मानन्द के निर्विघ्न रूप उपभोग (आस्वादन) द्वारा जनित संरम्भ-उत्साह का शिरश्चालनादि संकेत प्रदर्शन को चमत्कार कहते हैं। आत्मानन्द की अनुभूति के पक्ष में यह अन्य से निरपेक्ष स्वात्मा में विश्रान्ति मात्र है और काव्यरस की अनुभूति के पक्ष में 'वृत्त्यन्तर' के उदयरूप विघ्न से रहित एकमात्र प्रासंगिक रस की चर्वणा या रसानात्मक आस्वाद चमत्कार है।³²

योग शब्द का इसी अर्थ (आस्वाद) में प्रयोग किया जाता है। हृदय को विश्रान्ति का दशा माना गया है। अर्थात् जहाँ संविद् स्थैर्य है, अतः यह चित्त के स्थिर होने की दशा है। यह आत्मानन्द स्वरूप अवस्था है। भोग ऐसी ही अवस्था को सूचित करता है। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने सुख-दुःख की सामान्य स्थिति को भोग कहा है।³³ जिसे देह नहीं महास्फुरता ही अनुभव करती है। अर्थात् यह देशकाल विशेष सम्बन्ध रहित स्थिति है। यही परमेष्ठी³⁴ जिसके विकास से चिदानन्द लाभ होता है।³⁵ इसका अनुभव साधक जीवन्मुक्ति की दशा में करता है, जिसे अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में समापत्ति, समावेश एवं एक रस कहा है। साधक यहाँ पर परमशिवमय हो जाता है।

काव्यशास्त्र में सहृदय की अवधारणा इसी हृदय तत्त्व के सन्निधान में विकसित हुई है। आचार्य अभिनवगुप्त ने काव्य प्रयोजन में मुख्यतः प्रीति या परनिर्वृत्ति की बात कही है, जो तत्त्वतः संविद् विश्रान्ति या पूर्णता परामर्श है। यह काव्य में साधारणीकृत भावभूमि है, जो परा संवित् की विश्रान्ति है। यही स्वरूप प्रत्यभिज्ञा अर्थात् मोक्ष है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि में सहृदय का भी अन्तिम लक्ष्य यही है। अभिनवगुप्त ने सहृदय की व्याख्या में जिस दर्शन भूमि का आधार लिया है, वह प्रत्यभिज्ञा के हृदय तत्त्व के आस-पास ही परिलक्षित होती है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि शैवाद्वैत में सृष्टि के दो क्रम हैं। प्रथम उन्मेष क्रम, जिसमें सृष्टि का आभासन सूक्ष्म से स्थूल अर्थात् आरोही क्रम में है। जबकि द्वितीय क्रम में (जिसे निमेष, लय इत्यादि शब्दों से अभिहित किया जाता है) स्थूल से सूक्ष्म क्रम अर्थात् अवरोही क्रम है। यह सब कुछ हृदय तत्त्व के परिणामस्वरूप ही सम्भव है, उसकी स्थिति दोनों स्तरों पर प्रधान है। जहाँ प्रथम क्रम का उल्लेख आता है तो वह स्वातन्त्र्य, स्पन्द एवं शिवा, प्रतिभा आदि से अभिहित होता है। द्वितीय क्रम में लय, विश्रान्ति, समापत्ति, चमत्कार आदि का प्रयोग होता है। सहृदय का सम्बन्ध इसी द्वितीय क्रम से है, जिसमें सहृदय साधकवत्

परनिर्वृत्ति परमशिव रूप कवि हृदय में तन्मय होकर काव्यानुभूति अथवा रसानुभूति प्राप्त करता है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने सहृदय शब्द की परिभाषा प्रत्यभिज्ञा सम्मत ही दी है।

सहृदय वह होता है, जो कल्पनाशक्ति से सम्पन्न होने के कारण शुद्ध रसानुभव का आनंद लेने का अधिकारी है।³⁶

सहृदय वे हैं, जो काव्य एवं शास्त्र के अध्ययन द्वारा अपने हृदय के साथ संवाद की शुद्ध सामर्थ्य प्राप्त कर चुके हैं और इस प्रकार जिनमें प्रस्तुत के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने का गुण हो।³⁷

इन परिभाषाओं में प्रमुखतः इन गुणों का उल्लेख है

1. सहृदय का हृदय ऐसा निर्मल होना चाहिए कि जो मंच पर प्रदर्शित नाट्य दर्पण जैसी निर्मलता से प्रतिबिम्बित कर सके।
2. नाट्यवस्तु के साथ एकाकार की क्षमता हो।
3. उसे कवि के मन से उस भाव का अनुभव करना चाहिए, जो नाटक अथवा काव्य के माध्यम से सम्प्रेषित किया जा रहा है। इन सभी गुणों को तन्त्रालोक में विशदता से स्पष्ट किया गया है।

निर्मलत्व के लिए वे कहते हैं

नैर्मल्यं चातिनिबिडसजातीयैकसंगतिः

स्वस्मिन्नभेदात् भिन्नस्य दर्शकमतैव या।

अव्यक्तस्वप्रकाशस्य नैर्मल्यं तद् गुरुदितान् ॥³⁸

अर्थात् निर्मलता किसी पदार्थ के सजातीय तत्त्वों में घनिष्ठ सामीप्य है। जैसे दर्पण रूप परमाणुओं से मिलकर बना है। ये परमाणु एक-दूसरे के अत्यन्त सामीप्य में हैं, किन्तु जब दर्पणतल धूलिकणों से ढँक जाता है, तो यह चेहरे को स्पष्टतया प्रतिबिम्बित नहीं कर पाता, क्योंकि रूप-परमाणुओं का घनिष्ठ सामीप्य उनके बीच आनेवाले धूलिकणों द्वारा बाधित होता है, अतः दर्पण निर्मल नहीं है। जब हम धूलि हटा देते हैं, तो रूप-परमाणुओं का घनिष्ठ सामीप्य फिर से लौट आता है और कहा जा सकता है कि दर्पण निर्मल है। हमारे हृदय के विषय में भी यही स्थिति है। जब दर्शक (सहृदय) अभिनीत नाटक को देखते हैं अथवा काव्य को पढ़ते हैं तो उनके मन प्रस्तुत भाव से परिपूर्ण होना चाहिए। प्रस्तुत विषय-वस्तु से सम्बद्ध किसी अन्य भाव अथवा भावों के उदय से उनका मन व्याकुल नहीं होना चाहिए।

दूसरा गुण तन्मय हो जाने की सामर्थ्य है। यह तभी सम्भव है, जब हृदय की आवश्यक निर्मलता सहृदय हो इसलिए दर्शक के हृदय की शुद्धता के अनुसार ही प्रदर्शित स्थिति उसके हृदय में प्रतिबिम्बित होती है। (आस्ते हृदयनैर्मल्यातिशये

-तारतम्यतः) प्रदर्शित वस्तु के दो अंश होते हैं चेतन और अचेतन। अचेतन अंश को दर्शक उसी प्रकार ग्रहण करता है, जैसे अनेक सूक्ष्मताओंवाले किसी चित्र के एकत्व को ग्रहण किया जाता है। किन्तु चेतन अंश का ग्रहण दर्शक द्वारा अभिनीत भाव से तादात्म्य किए बिना नहीं होता।³⁹ इसे ही तन्मयीभवन कहते हैं, जिसकी व्याख्या अभिनवगुप्त इस प्रकार करते हैं

हम एक घट का प्रत्यक्ष करते हैं। घट हमारी चक्षुरिन्द्रिय पर प्रतिफलित होकर हमारे मानस पटल पर उपस्थित होता है। मनः पटल व्यापित चेतना का ही एक प्रसृत रूप है, विमर्श का ही एक स्फुरित या स्पन्दित स्वरूप है। इस प्रकार बाह्य घट हमारी प्रकाश-विमर्शमयी सत्ता का ही एक अंग बन जाता है। विषय की यह आत्मकारा परिणति ही तन्मयीभवन है। तथा च घटो मम स्फुरतीति कोऽर्थः? मदीयं स्फुरणं स्पन्दमाविष्टमद्रूपतामपन्न एव, चिन्मयत्वात्।⁴⁰ भास्करकण्ठ अभिनवगुप्त के इस मत को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं

“बाह्य पदार्थों का जो स्वरूप प्रमाता की चेतना के समक्ष आता है, वह मूलतः शुद्ध प्रकाश से भिन्न नहीं है तथापि माया द्वारा पृथक् रूप से भाषित होता है। पदार्थों की यह आत्मरूपता की प्राप्ति ही तन्मयीभाव⁴¹ है।” इस प्रकार अभिनवगुप्त के तन्मयीभाव का अर्थ है ‘प्रमेय की आत्मकारा परिणति।’ भाव के साथ इस तादात्म्य के परिणामस्वरूप हृदय संवाद होता है। संवाद का अर्थ है ‘दो सदृश वस्तुओं में सामरस्य। काव्य में इस स्थिति के माध्यम से कवि के भाव और पाठक या दर्शक के बीच की स्थिति से सामरस्य की स्थिति उत्पन्न होती है, जिसमें चमत्कार या आनन्द मिलता है। इसे आत्म परामर्श या पूर्णता परामर्श कहते हैं।’

एक अन्य गुण जो सहृदय में होता है, वह प्रतिभानशालिहृदय अर्थात् सहृदय के पास कलात्मकता कल्पना के साक्षात्कार करने हेतु प्रतिभा भी आवश्यक है।

प्रतिभा के द्वारा प्रमाता सहृदय अर्थ का सृजन करता है अर्थात् वर्णनीय को समझता हुआ उससे तादात्म्य स्थापित कर रसानुभूतिमय विश्रान्ति को प्राप्त करता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शैवाद्वैत दर्शन में प्रमाता पहले अर्थ का सृजन करता है। उसमें अनुरत होता हुआ विश्रान्ति रूप स्थिति प्राप्त करता है। फिर यह विषय मुझे ज्ञात हो गया, इस सन्तोष का विमर्श करता हुआ उसका उपसंहार कर चिदग्नि प्रकाश को आत्मसात् करता है।⁴² प्रतिभा सहृदय प्रमाता की आध्यात्मिक शक्ति है, जिसके आश्रय से सहृदय व्यक्ति सर्वोच्च प्रकाश में स्थित हो जाता है। तन्त्रालोक में कहा भी गया है कि

प्रतिभा व्यक्ति को वैयक्तिकता के धरातल से उठकर सद्विद्या की दशा तक पहुँचा देती है। इस दशा में वह शक्ति तत्त्व के रूप में जाना जाता है; यदि मनुष्य सद्विद्या के धरातल से नीचे नहीं उतरता तो वह परमशिव हो जाता है।⁴³

इसी प्रतिभा के कारण सहृदय में सहृदयता का भाव जागृत होता है। *परात्रिंशिका* में अभिनवगुप्त ने रूढ़ि शक्ति से 'सहृदयता' का अर्थ किया है 'शुक्रक्षोभात्मा हि सहृदयता'⁴⁴ अर्थात् शुक्र-क्षोभ अर्थात् काम अर्थात् आनन्द या सौन्दर्य। यह क्षोभ शुक्र की सक्रिय स्थिति है, जिसको अभिनव 'सस्पन्द' कहते हैं। यह सक्रिय होती हुई भी संयत होती है। शुक्र की यह 'संयत सक्रियता' वस्तुतः रचनात्मक स्थिति है। *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी* के अनुसार सहृदयता अभिनव आनन्दमय चित् का परामर्श है। यह परामर्श (विमर्श हृदय) चित्तवृत्ति की भूमि पर होता है, उस समय वेद्य विश्रान्त (फलतः व्यवस्थित) प्रकाश भाग गौण होता है।⁴⁵ अतः सहृदयता भी स्वात्मविश्रान्ति रूप हृदय की बोधात्मक अवस्था है। उपर्युक्त विश्लेषण से सहृदय की सारतः निम्नलिखित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं

1. एक विशेष काव्यग्राही क्षमता/प्रतिभा से काव्योपम भावों का भण्डार
2. शुद्ध भाव-भूमि में आत्म-परामर्श की सामर्थ्य
3. प्रतिभा की विमलता, जिससे वह विभावादि का मानस साक्षात्कार कर लेता है।
4. काव्य के निरंतर अनुशीलन का अत्यन्त अभ्यास
5. साधारणीकृत विभावादि (वर्णनीय) में तन्मयीभाव की योग्यता
6. कवि हृदय से तादात्म्य-स्थापना की शक्ति।

इस प्रकार रसास्वादन का अधिकारी लौकिक साधारण पुरुषों से विलक्षण होता है। काव्य के निरन्तर परिशीलन से जिनमें कवि वर्णित भावों में तन्मयीभवन की योग्यता आ चुकी है, वे ही सहृदय कहलाते हैं और वे भी रसास्वादन के अधिकारी हैं। तन्मयीभाव हृदय का धर्म है न कि बुद्धि का। इसलिए बुद्धि की प्रधानता वाले ब्रह्मज्ञान को रसास्वादन से भिन्न ही बतलाया है। हृदय प्राधान्य के कारण ही रसास्वादन के अधिकारी सामाजिक को अन्य पुरुषों से विलक्षण 'सहृदय' की संज्ञा प्रदान की गई है।

रसानुभव की परिणति मनुष्य के आत्मानुसन्धान अर्थात् मुक्ति में है। अर्थात् रसानुभूति साधना-पद्धति के समान अज्ञानावरण से मुक्त अहमात्मक बोध है, जिसमें सम्पूर्ण विघ्नों का नाश एवं आनन्दानुभूति ही होती है। रसानुभूति संविद्धिश्रान्ति की अवस्था है, जो श्रम, कर्म, देश, काल व्यतिरिक्त है। जो शिव और शक्ति की सामरस्यावस्था है। यह रस प्रतीति निर्विकल्पक है। यहाँ सम्पूर्ण विकल्पों का नाश हो जाता है, जहाँ काल, देश, रूप, आकार आदि का ज्ञान नहीं होता।

भरत सूत्रस्थ संयोग पद का व्यंग्य व्यंजक भाव सम्बन्ध तथा निष्पत्ति पद अभिव्यक्ति अर्थ है। आस्वादन द्वारा रसरूपता को प्राप्त होनेवाला रतित्वरूप साधारण

रूप से उपस्थापित सकल हृदय संवाद सिद्ध रत्यादि व्यंग्य हैं और साधारणीकृत अतएव देशकाल व्यक्तिविशेष सम्बन्ध रहित विभावादि व्यंजक हैं।

उपर्युक्त व्याख्या पूर्णतः प्रत्यभिज्ञमतानुसारिणी परिलक्षित होती है, अर्थात् जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार आत्मा (जीव) यद्यपि आनन्दरूप है, इसलिए महेश्वर से अभिन्न है तथापि उसका वह स्वरूप माया के कारण अज्ञान से तिरोहित रहता है और विद्या के द्वारा उसके उस महेश्वर स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। *ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी* में कहा गया भी गया है कि

एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः।

विद्यादिज्ञापितैश्वर्यश्लिद्घनो मुक्त उच्यते ॥

मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते।

महेश्वरो यथा बद्धः पुनरत्यन्तभेदकः ॥⁴⁶

अभिनवगुप्त पादाचार्य के रस सिद्धान्त की भी यही स्थिति है। उनके मत में सहृदयों के हृदय में संस्कार रूप में स्थायिभाव विद्यमान है, किन्तु वे अनुदबुद्ध एवं व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित हैं। देशकाल व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध से रहित अतएव साधारणीकृत विभावों की चर्चना सहृदयों के द्वारा होती है, न कि देशकाल व्यक्तिविशेष सम्बन्ध युक्तों की। अतः साधारणीकृत विभावादि से जब अभिव्यक्ति होती है, तब अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् देशकाल व्यक्ति-विशेष सम्बन्ध रहित साधारणीकृत रूप में ही होती है। इसी अभिप्राय से इसे अभिव्यक्तिवाद कहा जाता है।

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन में जो भूमिका आणवोपायादि की है, वही अभिनव सम्मत रसानुभूति में विभावादि उपायों की है। आणवोपायादि से व्यक्ति प्रमाता समस्त कंचुकों से अकंचुकित होकर अज्ञानावरण को हटाता है। उसका संकुचित हृदय विस्तृत हो जाता है। वह व्यक्ति विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त होकर सामान्य हो जाता है। उसका बोध व्यापक हो जाता है, उसी प्रकार विभावादि उपायों से भी नियुक्त कंचुक विगलित हो जाते हैं और सहृदय प्रमाता देशकाल व्यक्ति विशिष्ट सम्बन्ध से मुक्त हो जाता है। सभी का साधारणीकरण हो जाता है। स्वत्व विस्मृति स्वत्व विस्तार है यही साधारणीकरण है। साधारणीकरण की अवस्था में सभी सहृदयों को वस्तु की एक जैसी प्रतीति होती है। अर्थात् वस्तु की प्रतीति साधारणीकृत रूप में होती है। अभिनवगुप्त इस सिद्धान्त को तन्त्रालोक में और स्पष्ट करते हैं

तथाह्येकाग्रसकलसामाजिकजनः खलु।

नृत्तं गीतं सुधासारसागस्वेन मन्यते ॥

तत एवोच्यते मल्लनटप्रेक्षोपदेशने।

सर्वप्रमातृतादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम् ॥⁴⁷

अर्थात् नाटकों और रूपकों के दर्शक अभिनेयता के चरम उत्कर्ष के समय ऐसी एकाग्रता की अनुभूति से भर जाते हैं कि उन्हें स्व-पर भेदवादिता की विस्मृति हो जाती है। उनके चित्त के आवरण भंग हो जाते हैं। अभिनेताओं से जैसे सामाजिकों का तादात्म्य-सा हो जाता है। परिणामतः सारा सामाजिक वर्ग उस समय सम्पन्न हो रहे नृत्त और गीतों के स्वास्थ्य में इतना तल्लीन हो जाता है कि रस सुधा के सारभूत द्रव से सराबोर सागर सानन्द लहराने लगता है।⁴⁸

प्रेक्षागृह रस समुद्र बन जाता है। सामाजिक वर्ग रसिकता के चरमोत्कर्ष में खो-सा जाता है। वहाँ सम्पन्न अभिनय नृत्त और गीत जो बहुवेद्य थे, उनमें एक अतिशय्य का उद्रेक हो जाता है। उस आनन्द बोध को दर्शक स्वात्मानुभवैकगोचर चरम-चमत्कार-सार रूप से परामर्श करने लगता है। एक-एक प्रेक्षक से संवेद्य नृत्त, गीत और अभिनयादि में एक सर्वसंचेत्य चमत्कारातिशय का ही उल्लास हो जाता है। रसानुभव के उन क्षणों में प्रमातृभेद नहीं रहता वरन् प्रमात्रैक्य घटित हो जाता है।⁴⁹ इस प्रकार एक सभी सहृदयों को एक जैसी प्रतीति होती है। सभी एकीभाव हो जाते हैं, यह सर्व प्रमातृतादात्म्यदशा है।⁵⁰

जब सब लोगों को एक साथ एक ही रूप में नाट्य आदि में देखे गए विभावादि का बोध होता है तब वे किसी विशिष्ट व्यक्ति से सम्बन्ध नहीं रह जाते। उनका बोध एक रूप होता है, क्योंकि उनके देखने से एक ही सर्वात्मक चैतन्य सबके भीतर प्रतिस्विव होता है। इस प्रकार उस सर्वात्मक चैतन्य में जो तन्मयीभाव है, वह सबका होता है और उससे होनेवाला आनन्द भी किसी एक का न होकर सबका होता है। परिणामतः वह आनन्दनिर्भर चैतन्य प्रत्येक प्रमाता के भीतर एक को प्राप्त होकर नृत्य आदि के विषय में पूर्णानन्द के रूप में प्रकट होता है।⁵¹

इस प्रकार साधारणीकरण देशकाल व्यक्ति विशिष्ट सम्बन्ध का परिहार है। अभिनवभारती में भी यही स्पष्ट किया गया है। ये विभावादि मेरे ही हैं, शत्रु के ही हैं, तटस्थ व्यक्ति के ही हैं, इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष के स्वीकार नियम तथा ये मेरे ही नहीं हैं, ये शत्रु के नहीं हैं, ये तटस्थ के नहीं हैं, इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष के परिहार के नियम की निवृत्ति ही साधारणीकरण है।⁵²

उपर्युक्त साधारणीकरण विभावादि का ही नहीं होता अपितु स्थायी भाव का भी होता है, ये स्थायीभाव सहृदय चित्त में वासना रूप में स्थित उसका अपना भाव होता है। यह साधारणीकरण एक सामूहिक व्यापार है, जिसका आधार आत्म चैतन्य की अद्वैतता है। इसकी सार्थकता यही है कि उसके माध्यम से सामाजिक के परिमित प्रमातृ भाव का विगलन हो जाता है और तब रसरूप शिव तत्त्व से वह अपनी अभेदप्रायता का अनुभव कर सकता है। यही शिव शक्ति का मिलन है। इसे ही स्वात्मबोध या आत्मप्रत्यभिज्ञा कहते हैं, जिसमें सहृदय का परिमित प्रमातृभाव से मुक्त अपनी मूलभूत विराटता का बोध होता है। अभिनवगुप्त रसानुभूति की दशा में इसके

सकलविघ्न-विनिर्मुक्ति कहते हैं। इसीलिए *अभिनव भारती* में रसविघ्न एवं उनके निराकरण की चर्चा करते हैं। ये (रसविघ्न) सहृदय को लौकिक भाव भूमि की चेतना से बाँधे रखते हैं तथा कला माध्यम तथा कलावस्तु को स्वपर तटस्थ सम्बन्धों से कंचुकित रखते हैं। इनकी संख्या सात है।⁵³

1. सम्भावना विरह

संवेद्य विषय को असम्भव समझने वाला व्यक्ति उस विषय में अपनी प्रतीति को विनिविष्ट नहीं कर सकता, वहाँ विश्रान्ति की सम्भावना नहीं हो सकती इसलिए संभावना-विरह रसानुभूतिमय विश्रान्ति में प्रथम विघ्न हैं।

इसके निराकरण हेतु वस्तु की लोकसाधारणता आवश्यकता है, जिससे उसमें रसास्वादयिता का हृदय संवाद हो सके। समुद्रलंघन आदि अलौकिक व्यापारों का संबन्ध ऐसे इतिहास प्रसिद्ध लोकोत्तर सामर्थ्ययुक्त पुरुषों से माना जाता है, जिनमें ऐसे कार्य करने की प्रसिद्धि और सामर्थ्य की भावना हमारे हृदय में चिरकालिक संस्कार के रूप में विद्यमान है। इसीलिए नाटकादि में इतिहास प्रसिद्ध कथावस्तु एवं प्रख्यात नायक को आधार बनाया जाता है।⁵⁴ यह सम्भावना विरह दोष का परिहार है।

2. स्वगतपरगतवनियमेन देशकालविशेषावेश

सामाजिक के निजी सुख-दुःख के आस्वादन करने पर चित्त की विश्रान्ति असम्भव है क्योंकि आत्मगत सुखानुभव में वह सुख के नाश के भय से उसकी रक्षा की व्यग्रता से तथा तत्समान सुखार्जन की इच्छा से तो दुःख की स्थिति में वह उसे छोड़ने, उसको प्रकट करने की या छिपाने की इच्छा से चित्त को विश्रान्त नहीं कर पाता।⁵⁵ अतः सामाजिक सहृदय में उत्पन्न विभिन्न भावात्मक दशाएँ रसानुभूति में विघ्न पैदा करती हैं।

इसी प्रकार परगत सुख-दुःख के आस्वादन में भी स्वभावतः सुख-दुःख आदि अन्य ज्ञानों के उदय से चित्त की विश्रान्ति नहीं होगी।⁵⁶

इन दोषों के परिहार हेतु अभिनवगुप्त पादाचार्य ने विभावादि के साधारणीकरण की व्यवस्था रखी है। इसके द्वारा सामाजिक देशकालविशेष सम्बन्ध एवं व्यक्तिविशेष सम्बन्ध से मुक्त हो जाता है।⁵⁷

3. निजसुखादिविवशीभाव

अपने सुखादि में निमग्नता भी रसप्रतीति में विघ्न है। निजसुखादि में डूबा हुआ सहृदय काव्यार्थ रत्यादि में तन्मय नहीं हो सकता, जो कि रसास्वादन के लिए आवश्यक है।

इसके निराकरण हेतु नाट्य में नृत्य, गीत, वाद्य, मण्डपसज्जा, विदग्ध गणिकाओं के नृत्य तथा विभिन्न प्रकार के अभिनय की व्यवस्था की गई है। इसके द्वारा विभावादि का साधारणीकरण होता है और उनमें सकलजन योग्यता आ जाती है।

रसास्वादन के लिए हृदय संवाद रूप सहृदयता की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इन नृत्यादि के विधान से अहृदय मनुष्य का भी चित्त निर्मल हो जाता है और उसमें सहृदयता आ जाती है।⁵⁸

4. प्रतीत्युपाय विकलता

प्रतीति अर्थात् रसप्रतीति के उपाय की विकलता भी रसानुभूति में विघ्न है, क्योंकि यदि प्रतीति के साधन विभावादि उपाय नहीं होंगे तो प्रतीति कैसे होगी।⁵⁹

5. स्फुत्वाभाव

अस्पष्ट या परोक्ष प्रतीति के जनक शब्द एक अनुमान के होने पर भी साक्षात्कारात्मक स्फुट प्रतीति रूप प्रत्यक्ष की आकांक्षा होने के कारण उनसे उत्पन्न प्रतीति की विश्रान्ति नहीं होती। अर्थात् विभावादि से अतिरिक्त शब्द तथा अनुमान प्रमाण आदि के द्वारा रत्यादि प्रतीति मानी भी जाए तो वह अस्फुट होगी। यह प्रत्यक्ष के समान स्फुट प्रतीति नहीं होगी। अतः रसास्वादन के लिए रत्यादि की प्रत्यक्ष रूप स्फुट प्रतीति अपेक्षित है। साक्षात् प्रतीति होने पर उसमें अनुमानादि के द्वारा अन्यथाभावज्ञान की सम्भावना नहीं होती।

उपर्युक्त विघ्नों के अपसरण हेतु नाट्य में लोकधर्मी वृत्ति तथा प्रवृत्तियों युक्त अभिनयों का विधान किया गया है, क्योंकि अभिनय शब्द तथा अनुमान प्रमाण से भिन्न प्रकार का प्रत्यक्ष व्यापार है।⁶⁰

6. अप्रधानता

आस्वाद्यमान वस्तु की अप्रधानता भी रसविघ्न है। उसके अप्रधान होने से चित्त की विश्रान्ति असम्भव है। इसी कारण रसानुभूति में अप्रधानता भी विघ्न है। रसानुभूति में यह अप्रधानता अचेतन विभाव, अनुमान एवं व्यभिचारि भावों के कारण होती है। इसलिए रसानुभूति में स्थायीभाव की प्रधानता ही आवश्यक होती है। अतः जिन वस्तुओं में अप्रधानता है, उनकी चर्चणा रस नहीं कहलाती है, अतः विभावादि की अपेक्षा प्रधान स्थायिभाव का ही प्रधान रूप से वर्णन आवश्यक है। विभावादि का नहीं।⁶¹

7. संशययोग

स्थायिभावों के अन्तर्गत विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों का पृथक्-पृथक् रहने या प्रयोग का कोई नियम नहीं है, क्योंकि करुण रस के अनुभव अश्रुपात आदि हैं, किन्तु अश्रु अक्षिरोग के कारण भी निकलते हैं। इसी कारण व्याघ्र आदि रौद्र रस के स्थायी भाव क्रोध भयानक के भय के भी हेतु देखे जाते हैं। यहाँ व्याघ्रादि से रौद्र एवं भयानक रस की उत्पत्ति में संशय हो सकता है। श्रम चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव उत्साह तथा

भय आदि स्थायिभावों के साथ भी देखे जाते हैं। जिससे रसोत्पत्ति में संशय की पूरी सम्भावना रहती है।

इसलिए संशय नामक विघ्न के निराकरण के लिए भरतमुनि द्वारा संयोग शब्द का प्रयोग किया गया है, क्योंकि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव आदि पृथक्-पृथक् संशयकारक हो सकते हैं, किन्तु उनका एक साथ संयोजन सन्देहात्मक नहीं हो सकता। उदाहरणस्वरूप बन्धु विनाश की स्थिति में विलाप, रोदन आदि अनुभाव तथा चिन्ता दैन्य आदि के व्यभिचारी भाव रूप में रहने पर निश्चिततः इनके परस्पर संयोग से शोक ही होगा, क्रोध या भय नहीं।⁶²

उपर्युक्त सात विघ्न जो सहृदय की चेतना को बाँधे रखते हैं, उसको देशकाल आदि में परिसीमित रखते हैं, अभिनवगुप्त के साधारणीकरण के अन्तर्गत समाप्त हो जाते हैं। सहृदय पूर्णतः शुद्ध हो जाता है, अर्थात् उसकी 'संवित' (चेतना) विश्रान्त हो जाती है। सभी विषय सामग्री चमत्कार एवं निर्विशेषता से परिपूर्ण हो जाती है और मात्र स्थायी की ही चर्चमणता रहती है। सहृदय की चेतना देश, काल एवं व्यक्ति की विशेषता से मुक्त हो जाती है। इन सभी कारणों से रसानुभूति को 'वीतविघ्न' प्रतीति भी कहा जाता है। यहाँ सहृदय-हृदय का भी भेद समाप्त हो जाता है।

अभिनवभारती में वीतविघ्नप्रतीति में होनेवाली विश्रान्ति को चमत्कारपूर्ण बताया गया है। *त्रिक दर्शन* के अनुसार सहृदय के हृदय में जो संस्कार रूप में अनादिवासना स्थित है, वही वासना रूप स्थायीभाव संविद्विश्रान्ति दशा में रस रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। यह संविद्विश्रान्ति 'आनन्द' का मूल है।

जिस प्रकार शिव एवं शक्ति की अद्वैतावस्था चित् एवं आनन्द रूप है, शुद्ध विमर्श है तथा देश काल की बाधा से 'स्वतन्त्र' है, उसी प्रकार रसानुभव में सहृदय की संविद्विश्रान्ति की दशा होती है, जहाँ देशकालविमुक्त स्वतन्त्रता का चमत्कार है।

अभिनवगुप्त के अनुसार परमशिवतत्त्व का विश्वात्मक रूप प्रकाश विमर्शमय है। यह रूप शिवशक्तिमय है; चिन्मयावस्था है, सामरस्य है। प्रकाश चित् तथा विमर्श आनन्द है। जिस प्रकार शक्ति शिव का पक्ष है, उसी प्रकार आनन्द भी चित् का एक पक्ष है। प्रकाश रूप चित् शक्ति का विमर्श स्वतन्त्र है। अतः विमर्श आनन्द शक्ति है। विमर्श रूप शिवतत्त्व में विश्रान्ति ही आनन्द है। यह पूर्ण है। रसानुभव की प्रतीति को इसीलिए आनन्द रूप तथा पूर्ण माना गया है, क्योंकि परमशिव का चित्शक्तिमय जीव या हृदय भी यही है। इसके भी परमशिव की तरह दो रूप विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वात्मक होते हैं, जिसमें कवि का स्वरूप विश्वोत्तीर्ण है। उसमें हृदय की स्थिति काव्य सृष्टि की सर्जना करती है, जबकि दूसरी ओर सहृदय में हृदय की स्थिति उसी कवि हृदय से तादात्म्य स्थापित करने के लिए प्रयासरत रहती है। हृदय तत्त्व की स्थिति दोनों में समान है। अन्तर केवल इतना है कि सहृदय में हृदय की स्थिति संकुचित होती है, जो

विभावादि उपायों के माध्यम से विस्तृत होकर कवि हृदय रूप परमानन्द का स्वरूप धारण कर लेती है।

सन्दर्भ

1. कामसूत्र, 1.4.1।
2. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय।
3. काव्यादर्श, 1.89।
4. अभिनवभारती, भाग 1, पृ. 232।
5. अभिनवभारती, पृ. 467।
6. ध्वन्यालोक, 1.1।
7. अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय।
8. काव्यमीमांसा, चतुर्थ अध्याय।
9. काव्यप्रकाश, 3.21-22।
10. साहित्यदर्पण, 3.10।
11. अथर्ववेद, 3.3.1।
12. तैत्तिरीय ब्रूमः सहृदय मनः प्रीतयेतत्स्वरूपं। ध्वन्यालोक, 1.1।
13. सा स्फुरता महासत्ता देशकालविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥ ई.प्र.वि.।
14. विमलकलाश्रयाभिवसुष्टि महाजननी
भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरुचिर्जनकः
तदुभययामलस्फुरितभावविसर्गमयं
हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम सस्फुरतात् ॥ तन्त्रालोक 1.1।
15. हृदयं शक्तिशूत्रं - तन्त्रालोक, प्रथम आह्निक।
16. अनुत्तरामृतकुल - तन्त्रालोक, 4, आह्निक, पृ. 152।
17. हृदयं बोधपर्याय - तन्त्रालोक, 4 आह्निक, पृ. 152।
18. सारमेतत्समस्तस्य यच्चित्सारे जडं जगत्।
तदधीनप्रतिष्ठात्वात्परं हृदयं महत् ॥ तन्त्रालोक 4, पृ. 154।
19. संविन्निष्ठाहि विषय व्यवस्थितियः ॥ वही, पृ. 154।
20. यदुन्मीलनशक्तयैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां वन्दे तां प्रतिभा पराम् ॥ ध्वन्यालोक लोचन, प्रथम उद्योत।
21. या तत्र सम्यग्विश्रान्तिः सानुत्तरमयी स्थितिः।
इत्येतद्दृहृदयाधेकस्वभावेऽपि स्वधामनि ॥ तन्त्रालोक, भाग 1, 5.52 पृ. 252।
22. अनेका शक्तिरेकस्य युगपच्छ्रयते क्वचित्।
अग्निः प्रकाशदाहाम्यामेकत्रापि नियुज्यते ॥ वाक्यपदीय (वाक्यकाण्ड), 2.477।

23. चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक्स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥
सा स्फुरता महासत्ता देशकालविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥ (ई.प्र.वि.)।
24. ई.प्र.वि. - 1.5.13 पृ. 101।
25. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतु। - प्रत्यभिज्ञाहृदयम् 2।
26. चितिसङ्कोचात्मा चेतनोऽपि सङ्कचितविश्वमयः। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।
27. यत्र सर्वं लयं दहन्ते तत्त्वसञ्चयाः।
तो चितिं पश्य कायस्थां कालानलसमप्रभाम् ॥ तन्त्रालोक 19.182, भाग 7, पृ. 4. 96।
28. स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजड़ोपमः। 7 ई. प्र. वि. 1.5.11।
29. स्पन्दकारिका 22।
30. चैतन्य आत्मा आनन्दमयः 1 शिवसूत्र।
31. एवं चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलय विश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते।
- अभिनवभारती, अध्याय षष्ठ, पृ. 257।
32. क. चमतः भुञ्जानस्य यत्करणं संरम्भयः संकेतप्रदर्शनं स चमत्कारः। ई. प्र. वि.
ख. स्वात्मनि अनन्यापेक्षे विश्रमणम्। एवं भुञ्जानतारूपं चमत्त्वं, तदेव करोति संरम्भे
विमृशति न अन्यत्र अनुधावति। चर्मादिति क्रियाविशेषणम्, अखण्ड एव वा शब्दो
निर्विघ्नास्वादनवृत्तिः। चमदिति वा आन्तरस्पन्दान्दोलनोदितपरामर्शमय-
शब्दानाव्यक्तानुकरणम्। काव्यनाट्यरसादावपि भाविचित्तवृत्त्यन्तरोदय -
नियमात्मकविघ्नरहित एव आस्वादो रसनात्मा चमत्कार इति उक्तमन्यत्र। ई.प्र.वि.
वि. 2, क्रियाधिकार, वि.4।
33. भोगस्य सुखदुःखाद्याभाससाधारण्यमनुश्राना। तन्त्रालोक आह्निक तृतीय, पृ. 478।
34. सर्वान्तरतमत्वेन वर्तमानत्वात् तद्भित्तिलग्नता विना च कस्यचिदपि स्वस्वरूपानुपतेः
संविदेव भगवती मध्यम्। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् 17 की टीका।
35. शैवाद्वैत दर्शन में आनन्द को छह आनन्द भूमियो में व्याख्यात किया गया है-
1. निजानन्द 2. निरानन्द 3. परानन्द 4. ब्रह्मानन्द 5. महानन्द 6. चिदानन्द।
1. **निजानन्द** - निजानन्दे प्रमात्रंशमात्रे हृदि पुरास्थितिः। (तन्त्रालोक 5.44) भाग 2,
पृ.247 निजानन्द में अनुभूति प्रमात्रंश मात्र में ही स्थित रहती है। अर्थात् स्वात्म
प्रमाता ही साक्षात् उल्लसित रहता है।
2. **निरानन्द** - शून्यतामत्तत्रविन्तेर्निरानन्द विभावयेत् (वही) - प्रमातृगत निजानन्द से
निष्क्रान्त होने के कारण निरानन्द की अनुभूति होती है। यह अनुभूति बाहर की
ओर प्राण की उन्मुखता में ही होती है।

3. **परानन्द** - परानन्दगततिष्ठेदपानशशिशोभिः । (वही 5.45)
परानन्द विष्ट अवस्था में साधक सूक्ष्म प्रमेयों के उदय की अवस्था में अवस्थित हो जाता है। प्रमाण की अपेक्षा प्रमेय अनन्त होते हैं, उनके भोग रूप ग्रहण के उपरान्त उनके प्रति आकांक्षा समाप्त हो जाती है।
4. **ब्रह्मानन्द** - चौथा आनन्द ब्रह्मानन्द है। इस स्थिति में अनन्त-अनन्त प्रतिभा समान प्रमेयों का आपसी मिलाप स्वाभाविक रूप से होने लगता है। यह समग्र मेय की स्वीकृति समान भूमि है। वहाँ आनन्द का उपवृंहण होता है। इसीलिए इसे ब्रह्मानन्द कहते हैं।
ततोऽनन्तस्फरन्मेयसं घट्टैकान्तनिर्वतः ।
समानभूमिमागत्य ब्रह्मानन्दमयो भवेत् ॥ (वही 5.46, 47)।
5. **महानन्द** - ततोऽपि मानमेयौघकलनाग्रासतत्परः ।
उदानवह्नौ विश्रान्तो महानन्दं विभावएत । (वही, 5.47-48)
अर्थात् यह उदान वायु के स्तर का आनन्द है। यह पूर्णतः प्रमातृ सम्मत आनन्द है। योगी महानाद में विश्रान्ति हो जाने पर उदान अग्नि की शाश्वत शिखा में एकास रूप में दीप्तमन्त हो जाता है। (तत्र विश्रान्तिमम्पत्य शाख्यत्यस्मिन्महार्षिषि) वही 5. 48 ।
6. **चिदानन्द** - निरुपाधिर्महाव्याप्तियर्वानाख्योपाधिवर्जिता ।
तदखलु चिदानन्दो यो जडानुपवृंहितः ॥ वही 5.49
चिदानन्द सर्वोत्कृष्ट आनन्द होता है। यह ध्यान रूपी उच्चार भूमि का आनन्द है। महानन्द में विश्रान्ति के बाद एक अनिवर्चनीय शान्ति उल्लसित होती है। वह निरुपाधि होती है। कला से क्षिति पर्यन्त इसकी महाव्याप्ति होती है। व्यापकता के कारण इसे व्यान दशा भी कहा जाता है। यह चिद्रूप आनन्दस्वरूप है। इसलिए इसे चिदानन्द भी कहते हैं। इसमें अचित् जड़ों के लिए कोई जगह नहीं होती है, इसमें प्रमाता परमशिवमय हो जाता है।
36. अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः । अभिनवभारती, पृ. 470 ।
37. एषाम् काव्यानुशीलनाख्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः । ध्वन्यालोकलौचन, पृ. 40 ।
38. तन्त्रालोक (विवेक टीका) 1.7.8 ।।
39. जडेन यः समावेशः स प्रतिच्छन्दकाकृतिः ।
चैतन्येन समावेशस्तादात्म्यं नापरं किल ॥ अभिनवगुप्त, पृ. 71 ।
40. प्रेम स्वरूप, रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ. 201-202 ।
41. ग्रहणसमये भावस्थ मायया भावत्वेन भासितं निज सहज शुद्धप्रकाशाभ्यं स्वरूपमेव प्रभातारं प्रति स्फुटी भवति यतः, तदा प्रमाता, तद्वस्तु प्रति दिदृक्षा समये व्यापकी भवति ...व्यापकीभवंश्च तद्वस्तु स्वात्मसात्करोति तन्मयोभावासादनं च वस्तुनः शुद्धप्रकाशस्वरूपत्वासादानमेव प्रमातुः शुद्ध प्रकाशमात्ररूपत्वात् । वही पृ. 230 ।

42. प्रमाता हि प्रथममवभास्यमानतया अर्थं सृजति, तदनु तत्रैव प्रशान्तनिमेषं कंचित्कालमनुरम्यन् परिस्थापयति, पश्चात् ज्ञाताऽयं मयार्थं इति सन्तोषाभिमानात् स्वात्मनि विमृशन्पुसंहरति अनन्तरं चिदग्निसद्भावमादयति । तन्त्रालोक, 5.28 की वृत्ति भाग 2, पृ. 240 ।
43. स एव प्रतिभायुक्तः शक्तितत्त्वं निगद्यते ।
तत्पातावेशतो मुक्तः शिव एव भवार्णवात् ॥ तन्त्रालोक 13.118 ।
44. उद्धृत, साधारणीकरण और सौन्दर्यानुभूति के प्रमुख सिद्धान्त, पृ. 262 ।
45. हृदयेन परामर्शलक्षणेन प्राधान्यात् व्यपदेश्या व्यवस्थितस्यापि प्रकाशभागस्य वेद्यविश्रान्तास्यानादरणात् सहृदयत उच्यते । ई.प्र.वि.वि. भाग 2, पृ. 177-179 ।
46. ई.प्र.वि. 3.2.2, 3 ।।
47. तन्त्रालोक, चतुर्थ भाग 10.85, 86 ।
48. तन्त्रालोक, 10.85 की विवेक टीका ।
49. वही, भाग- 4, पृ. 75 ।
50. वही, 10.86 की वृत्ति भाग-4, पृ. - 76 ।
51. तन्त्रालोक 27.373 ।
52. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास ।
53. विघ्नाश्चास्यां प्रतिपत्तौ अयोग्यता सम्भावना विरहो नाम, स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकाल विशेषावेश, निजसुखदिविवशीभव प्रतीत्युपायवैकल्यम्, स्फुटत्वाभाव, अप्रधानता संशययोगश्च । अभिनवभारती, पृ. 280 ।
54. तथा हि संवेद्यसंभावयमानः संवेद्ये संविदं विनिवेशयितुमेव न शक्नोति का तत्र विश्रान्ति इति प्रथमोविघ्नः । तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तु विषयः । अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेषु अखण्डितप्रसिद्धिजनित गाढारूढ प्रत्ययप्रसरकारी प्रख्यातारामदिनाममधेयपरिग्रह । अत एव निस्सामान्योत्कर्षोपदेश व्युत्पत्ति प्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तु विषयत्वादि नियमेन निरूपयिष्यते । वही पृ. 280 ।
55. स्वैकतानां च सुखदुःखसंविदामास्वादे यथासम्भव तदपगमभीरुतया वा तत्परिरक्षाव्याग्रतया वा प्रकारान्तरेण वा संवेदान्तरसमुद्गम एव परमोविघ्नः । वही, पृ. 259 ।
56. परगतत्वनियमभाजामपि सुखदुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदुःखमोहमध्यस्थ्यादिसंविदन्तोरद्गमन सम्भवादवष्यंभावीघ्नः । वही, पृ.259 ।
57. तदपाकरणे कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्रपूर्वपूर्वविधिं प्रति इत्यादिना पूर्वङ्गानिगूहने नटी विदूषको वाऽपि इति लक्षिततत्प्रस्तवनावलोकनेन च यो नटरूपताधिगमस्तत्पुरस्सरः प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपायः अलौकिकभावादि भेदलास्याङ्गपीठमण्डलगतकक्ष्यादिपरिग्रहनाट्यधर्मसहितः ...स एष सर्वो मुनिना साधारणीभषसिद्ध्या रसचर्वणोपयोगित्वेन परिकरबन्धः समाश्रितः । ततः स एष परिनियतताविघ्नाप सरणप्रकारो व्याख्यातः वही, पृ. 259-260 ।

58. निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामएदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दविषयमयैरातोद्यगान विचित्रमण्डपदविदग्धगणिकादिभिरूपरञ्जनं समाश्रितम् । येनाहदयोऽपि हृदयवैमल्य प्राप्या सहृदयीक्रियते । अभिनवभारती, पृ. 28 ।
59. किञ्च प्रतीत्युपायनाभावे कथं प्रतीतिभावः । अभिनवभारती, पृ. 28 ।
60. अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिङ्गसम्भवेऽपि न प्रतीति विश्राम्यति । स्फुटप्रतीतिरूप प्रत्यक्षोचित प्रत्ययसाकांक्षात्वात् । यथाहुः सर्वाच्यं प्रमितिः प्रत्यक्षपरां (न्यायसूत्र भाष्य 1-3) इति । स्वसाक्षात्कृते आगमानुमानशतैरपि अनन्यथाभावस्य स्वसंवेदनात् । अलात् चक्रोदौ साक्षात्कारान्तरेणैव बलवता तदवधीरणात् इति लौकिकस्तारवरयं क्रमः तस्मात् । तदुभयविघ्नविधाते अभिनया लोकधर्मी वृत्तिप्रवृत्त्युपस्कृताः समाभिषिच्यन्ते । अभियन्त्यनं हि शब्दलिङ्गव्यापारविसदृशमेव प्रत्यक्षव्यापार कल्पमिति निश्चेष्ट्यामः ॥ अभिनवभारती, पृ. 281 ।
61. अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति । तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरे प्रत्युधावतः स्वात्मन्त्रविश्रान्तत्वात् । अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचए च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्मुखसेप्रेक्षिणि सम्भवतीति तदतिरिक्तः स्थाय्येन तथा चर्वणापात्रम् । अभिनवभारती, पृ. 262 ।
62. तत्रानुभवानां विभावानां व्यभिचारिणां च पृथक् स्थायिनि नियमो भान्ति वाष्पादेरानन्दाक्षिरोगादिजत्वदर्शनात्, व्याघ्रदेश्च क्रोधभयादि हेतुव्वात् श्रमचिन्तादेरुत्साहभयाद्यनेकसहचरत्वविलोकनात् एव संशयोदये शङ्कात्मकविघ्नशमनाय संयोग उपान्तः । सामग्री तु न व्यभिचारिणी तथा हि - बन्धुविनाशो यत्र विभावः परिदेवताश्रुपदिस्त्वनुभवः चिन्तादेन्यादि व्याभिचारी सोऽवश्यं शाक एवेति । अभिनवभारती, पृ. 265 ।

पाठकीय प्रतिक्रिया

संपादकीय मन्तव्य पत्रिका का प्राण है। चिन्तन-सृजन का जुलाई सितम्बर अंक का संपादकीय इसका प्रमाण है। यहाँ संपादक महोदय ने आज के लेखन के गुण-दोष का विवेचन किया है, क्योंकि प्रस्तुत अंक हिन्दी आलोचना से संबद्ध है। संपादक महोदय ने आज की अधिकांश कृतियों की निम्न-स्तरीयता पर आन्तरिक क्षोभ व्यक्त किया है, जिसके कारण साहित्य के नाम पर कूड़ा-करकट प्रकाशित हो रहा है। इससे छपास की लालसा तो पूर्ण होती है अवश्य, पर साहित्य अखाद्य वस्तुओं से भर जाता है। प्रकाशक रचना की स्तरीयता के आधार पर प्रकाशन नहीं करता, बल्कि रचनाकार से पैसे लेकर खाद-गोबर प्रकाशित कर प्रकाशक की पंक्ति में परिगणित होने की अपनी लालसा पूर्ण करता है।

प्रभाकर श्रोत्रीय का निबन्ध “महाभारतः रचनाओं का स्रोत” कथ्य के अनुरूप प्रतिपादित है अवश्य किन्तु असम के श्रीमंत शंकरदेव, महापुरुष माधव देव तथा किसी असमिया साहित्यकार का उल्लेख न करना निबन्ध की पूर्णता में बाधक है।

प्रो. पाण्डेय शशिभूषण ‘शीताशु’ द्वारा विवेचित “हिन्दी आलोचना के दुर्बल पक्ष” सञ्जक निबन्ध प्रतिपादन-क्षमता के कारण पूर्णतः सशक्त तथा महत्वपूर्ण है, जिसमें भावात्मक-अभावात्मक, धनात्मक-ऋणात्मक विन्दुओं पर सप्रमाण विचार किया गया है और पाठकों को साहित्य-विवेचन के साथ पूर्णतः ईमानदार बनने की आवश्यकता पर सकारात्मक रूप से बल दिया गया है। प्रस्तुत आलेख सच्चे गुरु-धर्म को मानकर, उसे ध्यान में रखकर अध्यापकीय तथा आचार्य शैली में लिखा गया है, जिससे तथ्य साफ-साफ झलक जाता है। भाषा की सरलता, सुबोधता तथा कथन भंगिमा और विवचन की सारगर्भिता इसकी अन्यतम विशेषता है। सच तो यह है कि रचनाकार की रचना तथा आलोचक में स्तरीयता का अभाव, तलस्पर्शिता का अभाव, पल्लवग्राहिकता का बाहुल्य, हरण प्रवृत्ति की आधिकता, पाठक में धैर्य का अभाव तथा मण्डूकप्लुत न्याय से अध्ययन ने आलोचना-कर्म का अपकार किया है।

जिस प्रकार श्रव्य-भाषा से काव्य की सम्यक व्याख्या होती है, उसी प्रकार आलोच्य भाषा से आलोचना अध्यापकीय होती है। आलोचक को परम्परा तथा

प्रयोगधर्मिता की भाषा का परित्याग कर शुद्ध भाषा का प्रयोग करना चाहिए। कभी किसी विद्वान ने criticals जेनकल का गलत अनुवाद किया - एक अध्ययन। इसी वजन पर बाद के लेखकों ने अंधाधुंध एक विश्लेषण, एक व्याख्या, एक विवेचन, एक प्रतिपादन, इत्यादि जैसे वाक्य खण्डों का प्रयोग करना आरंभ का दिया। अंग्रेजी की वाक्य रचना के लिए 'ए' 'ए' 'ए' जेम आर्टिकिल्स का प्रयोग अनिवार्य है, पर हिन्दी की वाक्य-रचना में 'एक' विशेषण का प्रयोग अनावश्यक है, क्योंकि एकत्व/बहुत्व विवक्षा के लिए हिन्दी में वचन तथा क्रिया हैं। अतः आलोचकों को अनावश्यक रूप से 'एक' शब्द के प्रयोग से बचना चाहिए। इसी तथ्य को उजागर करने के लिए डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र, रमेश दवे, नरेन्द्र कोहली ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। डॉ. मिश्र ने आलोचना के दुर्बल पक्ष को आरेखित करने के स्थान पर आलोचक की कमियों को उकेरा है। यों, सबके आलेख पठनीय एवं मननीय हैं।

डॉ. कमल किशोर गोयनका प्रेमचन्द के बहुपठित तथा अधिकारी विद्वान हैं। उनकी समस्त स्थापनाएँ सबल एवं प्रमाण सम्मत हैं। उनके द्वारा विवेचित "प्रेमचन्द-आलोचना के मिथक तथा उपेक्षा अवमूल्यन की दिशाएँ" नामक आलेख अपने कथ्य-प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सच तो यह है कि प्रेमचन्द मूलतः आस्था से पुष्ट आदर्शवाद के कथाकार हैं, जिसकी नींव तो है यथार्थ, पर दृष्टि है - आदर्श। भारतीय चिन्तन आदर्शवाद, आनन्दवाद और आशावाद पर टिका हुआ है। प्रेमचन्द ही नहीं, भारत का हर चिन्तक/साहित्यकार इसी परिधि में आता है। प्रेमचन्द भी उक्त तीनों सीमाओं में आबद्ध थे। वे भारतीय संस्कृति के तथा राष्ट्रीयता के अमर गायक हैं। उनके समस्त चरित्र भारतीय चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। सेवा सदन से लेकर गोदान तक और 'बड़े घर की बेटी' से लेकर कफन तक के कथानक भारतीय संस्कृति की गाथा को उजागर करते हैं। मजदूर वर्ग, दलित वर्ग, सर्वहारा वर्ग को अपने कथ्य का विषय बनाना या प्रगतिशील लेखक संघ की सभा की अध्यक्षता करना - प्रगतिशील, प्रगतिवादी या मार्क्सवादी होना नहीं है। यह मान्यता सतही सोच का अभिलक्षण है, क्योंकि विशिष्ट तथा सम्मानित व्यक्ति को प्रायः ही लोग किसी समारोह की अध्यक्षता करने के लिए आमंत्रित करते हैं, इससे वह व्यक्ति उसके सिद्धान्तों को मानने वाला नहीं हो जाता। सच तो यह है कि प्रेमचन्द केवल राष्ट्रवादी भारतीय थे। उन्हें किसी वाद और खेमों से जोड़ना उनके प्रति तथा उनकी विचारधारा के प्रति अन्याय करना होगा। आज का सतही पल्लवग्राही पाठक-आलोचकभीड़ में हो-हल्ला मचानेवाला है। जब भीड़ के हल्ला बोल व्यक्ति से उनके तथ्य के सम्बन्ध में पूछा जाता है, तब वह निरुत्तर हो जाता है, क्योंकि वह उस विषय से बहुत दूर रहता है। कुछ लोग बोल रहे हैं, इसलिए वह भी बोल रहा है। वह प्रवृत्ति किसी विषयवस्तु को

समझने में अत्यन्त गुमराह करती है और हम मूल तथ्य से दूर हो जाते हैं। मार्क्सवादी आलोचकों को इसका प्रमाण माना जाएगा, जिन्होंने मूलचेतना से हमें दूर किया है।

डॉ. शंकर शरण द्वारा विवेचित "निराला का वास्तविक पाठ" संज्ञक निबन्ध निराला के साहित्य की मूल चेतना को पूरी तरह से आरेखित करता है और वामपंथियों द्वारा दुष्प्रचारित मतवाद का खण्डन करता है। वामपंथियों ने निराला को वामपंथी बेड़ी में जकड़ दिया है। उस बेड़ी से उनकी मुक्ति का सार्थक प्रयास प्रस्तुत निबन्ध करता है। तुलसीदास में निराला ने भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा का जबरदस्त गुणगान किया है। ऐसे भारतीय संस्कृति के अमर गायक को वामपंथी कुदृष्टि से देखना निराला की चेतना के प्रति घोर असह्य अपराध है। इसके साथ ही रमेश दवे, रमेशचन्द्र शाह, कैलाशचन्द्र पंत, अरुण होता के निबंध पठनीय तथा चिन्तनीय हैं।

- डॉ. धर्म देव तिवारी शास्त्री, पूर्व आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी; गुवाहाटी विश्वविद्यालय; संप्रति - ग्राम चकिया, डाकघर-पुर, जिला-बलिया।

पत्रिका अपने नाम के अनुरूप ही दिखती रही है। इस बार कैलाशचन्द्र पन्त, शिवनारायण, विजय कुमार तथादिनेश चौबे के आलेख देख कर प्रसन्नता हुई। आपका सम्पादकीय विचारपरक रहता है। इस बार भी था। इस बार लोक साहित्य पर भी महत्त्वपूर्ण आलेख हैं।

समीक्षा के क्षेत्र में भी अच्छी सामग्री आपने दी है खासतौर पर कृष्णबिहारी मिश्र की पुस्तक पर रामचन्द्र प्रधान का विचार। यहाँ एक पाठक के रूप में मुझे यह बात कहनी उचित लग रही है कि लेखक अपने प्रयास में सफल है तथा पुस्तक की उपादेयता को असंदिग्ध बताते हुए भी समीक्षक के रूप में जो टिप्पणी प्रधान जी ने की हैं वह उस आलेख को कमजोर बना रहा है। अच्छी बात तो यह होती कि वह स्वतंत्र ढंग से इन तीनों विषयों पर विचारकरते। हिंदू संस्कृति पर टिप्पणी करने से पूर्व रामदास गौड़ हों या भगवान दास इन दोनों चिन्तकों के विचार धैर्य के साथ देखने की जरूरत है। यह मेरी विनम्र सोच है। मध्य युग में कबीर, विद्यापति, गोरखनाथ, तुलसी, सूर, आदि बेशक, बड़े आचार्य नहीं थे पर ये बाहर से नहीं आए थे उन्नीसवीं सदी के हिन्दी में विचारों का अकाल रहा है ऐसा ज्ञात नहीं था। इस पर विचार करने की जरूरत है।

पुस्तक के शब्द चयन को लेकर प्रधान जी की चिन्ता जायज नहीं लगती। कल ही हिंदी के चर्चित कवि ज्ञानेन्द्रपति से फोन पर बातचीत हो रही थी। देशज और संस्कृत के शब्दों के लिए कवि का समान आग्रह देखकर मुझे अच्छा लगा। कवि ने कहा कि 'तिरुपति में बन्द' के लिए वह 'तिरुपति दिक्बंधन' जैसे शब्द का प्रयोग कर

सकते हैं। हम हाय तौबा करने लगते हैं। निराला से लेकर अज्ञेय तक ने इस बात पर विचार किया है। शब्द संस्कृति से पाठक को जोड़ने का महत्त्वपूर्ण कार्य किसका है। किस साधारण जन को सामने रख कर लिखा जाय। भाषा के लिए पूजा तक का भाव रख जाय, यह ठीक है, पर लेखक को अपनी स्वायत्तता और जिम्मेदारी भी महसूस करनी चाहिए।

- शैलेंद्र कुमार त्रिपाठी, हिंदी विभाग, विश्वभारती,
शांति निकेतन, पश्चिम बंगाल-731235।

... चिन्तन-सृजन का जुलाई-सितम्बर अंक मिला। अभी डॉ. शंकर शरण और डॉ. अरुण होता की रचनाएँ पढ़ी है, जोकि अच्छी बन पड़ी हैं। ...

- डॉ. रमानाथ त्रिपाठी, 26, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-110034।

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ

पुस्तकें:

संस्कार, संस्कृति और समाज, कैलाश चन्द्र पंत; प्रकाशक: पहले पहल प्रकाशन, महाराणा प्रताप नगर, जोन-II, प्रेसकाम्प्लेक्स, भोपाल-462011; प्रथम संस्करण: 2013; पृष्ठ: 124; मूल्य: 50 रुपये।

डॉ. मधुकर गंगाधर की साहित्य-साधना, डॉ. वरुण कुमार तिवारी; प्रकाशक: मुकुल प्रकाशन, रघुवंशी निकेतन, सानिध्य कात्यायनी शक्तिपीठ मंदिर, छतरपुर, नई दिल्ली-110074; प्रथम संस्करण: 2013; पृष्ठ: 136; मूल्य: 200 रुपये।

पाठांतर, डॉ. वरुण कुमार तिवारी; प्रकाशक: विजया बुक्स 1/10753 सुभाष पार्क, गली न. 3, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032; प्रथम संस्करण: 2013; पृष्ठ: 112; मूल्य: 225 रुपये।

पत्रिकाएँ :

JOURNAL OF REGIONAL STUDIES, Vol. 23, No. 46, December 2012; Chief Editor: Prof. Vijay Kumar; Published by Prof. Vijay Kumar, Director-Centre for Regional Studies, T.M. Bhagalpur University; Page 238.

The **GUJARAT**, an English Quarterly Magazine, Vol-3, Issue-4, October, 2013; Editor: Bhagyesh Jha, Published from 7/2 Dr. Jeevraj Mehta Bhawan, Gandhinagar (Gujarat); Page 48.

यथावत, 1-15 सितंबर 2013, संपादक: रामबहादुर राय; स्वामी, मुद्रक एवं प्रकाशक: रवीन्द्र किशोर सिन्हा द्वारा ई-1, ईस्ट ऑफ कैलाश, नई दिल्ली-110065; पृष्ठ: 64; मूल्य: 20 रुपये।

चौराहा, प्रवेशांक; जुलाई-दिसम्बर, 2013; संपादक: अंजना वर्मा, कृष्णा टोला, ब्रह्मपुरा, मुजफ्फरपुर-842003; पृष्ठ: 80; मूल्य: 30 रुपये।

सदानीरा, साहित्य एवं संस्कृति की त्रैमासिकी; विवेकानंद दर्शन और साहित्य विशेषांक, प्रवेशांक: वर्ष:1 अंक:1, जुलाई-सितम्बर, 2013; संपादक तथा प्रकाशक: डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद द्वारा बी-3, त्रिभुवन विनायक रेसीडेंसी, (श्रीराम अपार्टमेंट के सामने), बुद्धा कॉलोनी, जी.पी.ओ., पटना-800001; पृष्ठ: 160; मूल्य: 20 रुपये।

वैचारिकी, भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिकी, मार्च-अप्रैल 2013, भाग 29 - अंक 2; संपादक: डॉ. बाबूलाल शर्मा; प्रकाशक: भारतीय विद्या मंदिर शोध प्रतिष्ठान, रतनबिहारीजी का मंदिर, रतनबिहारी पार्क, बीकानेर (राजस्थान); पृष्ठ: 104; मूल्य: 50 रुपये।

अभिनव इमरोज़, मासिक पत्रिका, वर्ष-2, अंक-14, अक्टूबर 2013; संपादक: देवेन्द्र कुमार बहल; प्रकाशन-स्थल: बी-3, 3223 वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070; पृष्ठ: 176; मूल्य: 20 रुपये।

अन्तरा, साहित्य और संस्कृति पर केन्द्रित पत्रिका; अंक-8, सितम्बर-नवम्बर 2013; संपादक: नरेन्द्र दीपक; प्रकाशक, मुद्रक, स्वत्वाधिकारी: नरेन्द्र दीपक, पहले पहल प्रिंटरी, 25-ए, प्रेस काम्प्लेक्स, भोपाल से छपवाकर, 4 पारिका फेस-2, चूना भूट्टी कोलार रोड, भोपाल-462016 से प्रकाशित; पृष्ठ: 72; मूल्य: 75 रुपये।

वे अहेड, मासिक, दिसंबर 2013; संपादक: अंकित सिंह बिश्नोई; मालिक, मुद्रक व प्रकाशक: आरती बिश्नोई, एस. के. ऑफसेट प्रा. लि., स्पोर्ट्स काम्प्लेक्स, दिल्ली रोड, मेरठ; कार्यालय 213 वेस्ट एण्ड रोड, मेरठ कैन्ट, मेरठ; पृष्ठ: 48; मूल्य: 25 रुपये।

Dialogue
Quarterly English Journal of Astha Bharati, Delhi since July 1999
Special Numbers:

- Vol. 3:3: Illegal Migration from Bangladesh
Vol. 3:4: Central Asia
Vol. 4:1: Fiscal Mis-management in North East India
Vol. 4:2 Maoist Insurgency in Nepal and India
Vol. 4:3 India: Security Dimensions
Vol. 4:4 Indian Islands: Andaman & Nicobar Islands and Lakshadwip
Vol. 5:1 South-East Asia
Vol. 5:2 Secularism: India in Labyrinth
Vol. 5:3 India's Neighbourhood
Vol. 5:4 Governance in the North-East
Vol. 6:1 Policing in India
Vol. 6:2 India and Central Asia
Vol. 6:3 Population Issues
Vol. 6:4 Naxalism
Vol. 7:1 Indo-Pakistan Relations & Kashmir
Vol. 7:2 Media in India
Vol. 7:3 India's North East
Vol. 7:4 India: Political Culture, Governance & Growth
Vol. 8:1 Understanding India
Vol. 8:2 India's Internal Security
Vol. 8:3 India's Interface with East Asia
Vol. 8:4 Education in India
Vol. 9:1 India's eastern Neighbourhood & 'Look East' Policy
Vol. 9:2 Caste, Community and Social Justice
Vol. 9:3 India's Encounter with the West
Vol. 9:4 India: Security Scene
Vol. 10:1 Kashmir
Vol. 10:2 Bangladesh
Vol. 10:3 India's North-East
Vol. 10:4 Himalayan Region
Vol. 11:1 India's Neighbourhood
Vol. 11:2 Terrorism/Insurgencies in India: Perception & Reality
Vol. 11:3 India: Women Related Issues
Vol. 11:4 China
Vol. 12:1 Media in India
Vol. 12:2 Gandhi & Hind Swaraj
Vol. 12:3 North-East India
Vol. 12:4 Education in India
Vol. 13:1 India and Asia: Cultural Continuum
Vol. 13:2 Bureaucracy and Governance in India
Vol. 13:3 Afghanistan
Vol. 13:4 Indian Scholarship in Humanities and Social Sciences: Its Achievements, Status and Linkage
Vol. 14:1 Positives and Negatives of Indian Politics
Vol. 14:2 Tibet
Vol. 14:3 The Energy Security Scenario
Vol. 14:4 India: Human Rights Issues
Vol. 15:1 India's Chronological Antiquity

Astha Bharati Governing Body Members

President

Dr. Jayanta Madhab

Development Economist and
Former Chairman, NEDFi
Former Director, ADB

Acting Secretary

Shri Rajesh Bhargava

Engineer-Business.

Treasurer

Shri J.N. Roy, IPS (Retd.)

Former Commissioner,
Civil Aviation Security, New Delhi.
(Ph.: 011-22712303)

Members

Dr. B.B. Kumar

Founder Secretary, Astha Bharati
Former Principal,
Kohima Science College,
Kohima, Nagaland.
and Editor, Dialogue &
Chintan-Srijan;
Editor, Quest, VKIC, Guwahati.
Former Member, EC, AC and
University Court, NEHU.

Dr. V. Suryanarayan

Ex Senior Prof. & Director,
Centre for South &
South-East Asian Studies,
University of Madras,
Chennai.

Shri Prakash Singh, IPS (Retd.)

Ex-Director General,
Border Security Force,
Ex-DGP, UP/Assam.

Dr. Suresh Sharma

Former Director, CSDS,
New Delhi.

Dr. Shankar Sharan

N.C.E.R.T., New Delhi.

Shri Bimal Pramanik

Director, Centre for Research
In Indo-Bangladesh Relations,
Kolkata.

Smt. Lata Singh IAS (Retd.)

Former Secretary Govt. of India;
Noida (U.P.)

Shri P.C. Haldar IPS (Retd.)

Former DIB,
Interlocutor for Assam Peace Talks
New Delhi

Shri D.N. Bezboruah,

Former Editor The Sentinel
Guwahati (Assam)

Smt. Patricia Mukhim,

Editor, Shillong Times,
Shillong (Meghalaya)

Dr. Achyutanand Mishra

(Former Vice-Chancellor
Makhanlal Chaturvedi National
University of Journalism-Bhopal)

Prof. Ramesh Chandra Shah

Padmasri, Academician,
writer & critic
Bhopal (M.P.)

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

 3277883 (Off.)

Regd. Office
**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002**

With Best Compliments

from

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhash Marg,
Darya Ganj, New Delhi-110002
Phone Off. 3277883, 3711848